
वैदिक संस्कृत साहित्य का इतिहास

विषय-सूची

अध्याय-1	वैदिक साहित्य का परिचय	1-20
अध्याय-2	संहिता काल	21-69
अध्याय-3	वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य	70-84
अध्याय-4	ब्राह्मण साहित्य	85-96
अध्याय-5	आरण्यक एवं उपनिषद्	97-115
अध्याय-6	सूत्रकाल	116-125
अध्याय-7	वैदिक, संस्कृति, सभ्यता एवं समाज	126-141

अध्याय-1

वैदिक साहित्य का परिचय

वैदिक साहित्य भारत का सबसे प्राचीन साहित्य है। यह साहित्य विशाल और सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को अपने अन्दर समाहित किए हुए है। इसीलिए किसी भी विषय का सम्बन्ध हो उसका उत्स वेदों में खोजा जाता है। वेद शब्द ग्रन्थ का वाचक होकर सम्पूर्ण ज्ञान का वाचक है। ज्ञान किसी भी विषय का हो सकता है। मानव जाति का प्राचीनतम इतिहास सामाजिक नियम, सदाचार, दर्शन, कला, धर्म आदि के ज्ञान का आधार वेद ही है। वेद के पर्यायवाची शब्द अनेक हैं—श्रुति, आम्नाय, त्रयी, आगम और निगम। इनमें सबसे प्रचलित शब्द श्रुति है। प्राचीनकाल में वेद को गुरु परम्परा से सुनकर ही अध्ययन किया जाता था। इसीलिए उसका नाम श्रुति है। वेद आध्यात्मिक ज्ञान के आधार हैं। सांस्कृतिक ज्ञान के स्रोत हैं। भारतीय आध्यात्मिक जीवन एवं उसके सांस्कृतिक विकास तथा समुत्कर्ष के अध्ययन के लिए वैदिक साहित्य कोश-ग्रन्थ प्रमाणित हो चुका है। भारतीयों के अन्तरतम का परिपूर्ण ज्ञान करने के लिए सहस्राब्दियों से प्रचलित इस साहित्य का जब तक रसास्वादन नहीं कर लिया जाता, तब तक वह ज्ञान अपूर्ण ही रहता है। वेद भारतीय परम्परा में प्राचीनतम और सर्वाधिक पवित्र माने जाने वाले ग्रन्थ हैं। मनु ने तो बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि—

“धर्म जिज्ञास्यमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।”

धर्म-विषयक जिज्ञासा के समाधान के लिए श्रुति ही प्रमाण है।

“वेदोऽखिलो धर्म मूलम्” “सर्वज्ञानमयो हि सः”

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति।।

वेद धर्म का मूल और समस्त ज्ञान से युक्त है। चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम, भूत, वर्तमान और भविष्य—इन सबका परिज्ञान वेद से होता है। ऊपर के उद्धरणों से भारतीय जीवन में वेदों की महनीय महत्ता का स्वतः आभास मिल जाता है।

वेद शब्द 'विद्' धातु से बना है। विद् धातु चार अर्थों में प्रयुक्त होती है—ज्ञान, सत्ता, लाभ और विचारणा। यहाँ यह ज्ञान अर्थ में प्रयुक्त है। भारतीय परम्परा उन ऋषियों, महर्षियों को मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहती है, जिन्होंने वेद मन्त्रों का मनन किया है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में ऐसा भाव मिलता भी है “ऋषियों ने अपने अन्तःकरण में जो वाक् (वेदवाणी) प्राप्त की, उसे उन्होंने समस्त मानवों को

पढाया।" यास्क ने भी निरुक्त में लिखा है—“मन्त्रामननात् छन्दांसिछादनात्” तथा “ऋषिर्दर्शनात्” अर्थात् ऋषियों ने मन्त्रों को देखा किन्तु आज प्रचारलब्ध वेद शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ ‘ज्ञान’ है। विन्टरनिट्ज ने भी अपना आशय इसी अर्थ में व्यक्त किया है, जहां वे “The knowledge Par excellence” तथा “The sacred the religious knowledge” लिखते हैं।”

यदि वेद तथा वैदिक साहित्य शब्द का सूक्ष्म विवेचनात्मक अध्ययन करें, उस स्थिति में जब हम वेद शब्द का अर्थ ज्ञान करते हैं, जैसा कि आज सर्वसम्मत विचार है तब वेद और विद्या दोनों ही समान धातु से निष्पन्न शब्द प्रतीत होते हैं इसलिए मूलतः विद्या और वेद शब्द समानार्थक ही हैं। इस दृष्टि से वेद शब्द का समानार्थक प्रयोग आयुर्वेद, धनुर्वेद आदि शब्दों के रूप में प्राचीन काल से चला आ रहा है। इस प्रकार आश्वलायन श्रौतसूत्र में अनेक विद्याओं के साथ वेदशब्द का प्रयोग किया गया है।

“मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।”

परिभाषा के अनुसार मन्त्र भाग और ब्राह्मण भाग दोनों के लिए वेद शब्द चिरकाल से प्रयोग होता चला आ रहा है और यदि हम संकुचित दृष्टि से इस शब्द पर विचार करें तो वेद के मन्त्र भाग या संहिता भाग को ही वेद कह सकते हैं जो कि मौलिक दृष्टि से अधिक संगत है।

वस्तुतः वेद शब्द का वास्तविक अभिप्राय मात्र संहिता भाग से है क्योंकि ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद् भाग उसकी व्याख्यान व भाष्य ही है। इस परवर्ती साहित्य को सम्पूर्ण वैदिक साहित्य इस शब्द के अन्तर्गत अवश्य ही समाहित कर सकते हैं किन्तु वेद शब्द से इस सम्पूर्ण वाङ्मय को ग्रहण करना समीचीन नहीं है। समस्त वैदिक साहित्य को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(1) संहिता—जो कि मन्त्र, प्रार्थना, स्तवन, आशीर्वाद, यज्ञ विषयक मन्त्रों के संग्रहात्मक सूक्त। दूसरे शब्दों में, मन्त्रों के समुदाय का नाम ही संहिता है।

(2) ब्राह्मण—Theological matters यज्ञ संबंधी विधान रीतियां एवं यज्ञोत्सव विषयक समस्त वैदिक ज्ञान के संग्रहात्मक मंत्र ब्राह्मण हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में एक प्रकार से संहिताओं के संग्रहीत मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या की गई है; किन्तु प्राधान्येन ब्राह्मण-ग्रन्थों का लक्ष्य यज्ञ का विस्तारपूर्वक वर्णन करना ही है।

(3) आरण्यक (Forest Text)—आरण्यक तथा उपनिषद् दोनों ही ब्राह्मण-ग्रन्थों के निकटवर्ती हैं तथा इन्हें भी हम संहिताओं की व्यवस्था के रूप में स्वीकार कर सकते हैं किन्तु इस साहित्य का ब्राह्मण साहित्य के साथ मौलिक अन्तर भी है। आरण्यक साहित्य में यज्ञों के आध्यात्मिक रूप का वर्णन है, तो उपनिषद् में प्राचीनतम दार्शनिक विवेचन। आरण्यक साहित्य जन-समाज

से दूर वनों में पढ़े जाने के कारण ही आरण्यक कहलाते हैं। ब्राह्मण साहित्य यज्ञकर्ता गृहस्थों के लिए है तथा आरण्यक वानप्रस्थियों के लिए।

(4) उपनिषद् (Secred Doctrine)—उपनिषद् वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग है। अन्तिम भाग होने के कारण इसे वेदान्त भी कहा जाता है। उपनिषद् ग्रन्थों में आत्मज्ञान, मोक्षज्ञान और ब्रह्मज्ञान की प्रधानता होने के कारण इसे आत्मविद्या, मोक्षविद्या और ब्रह्मविद्या भी कहा जाता है। ऋषियों के चिन्तन और मनन का साकार रूप है। इस ग्रन्थ में दार्शनिक चिन्तन का गहन विवेचन हुआ है।

श्री क्षेत्रेशचन्द्र जी ने वेद का एक विभाजन और किया है। वे लिखते हैं कि दूसरी दृष्टि से वेद के दो विभाग हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। ज्ञानकाण्ड से प्रधानतया उपनिषदों को और कर्मकाण्ड से वेद का अवशिष्ट अंश समझना चाहिए। उपनिषदों का एक और नाम है, वेदान्त अर्थात् चरम ज्ञान। वेदों का अन्तिम भाग होने के कारण ही उपनिषदों को वेदान्त कहा जाता है।

श्रवण कर गुरु परम्परा से अधीन होने के कारण मन्त्र ही श्रुति हैं। इन्हीं को मन्त्र भी कहते हैं। मन्त्रों का समुच्चय ही सूक्त है तथा सूक्तों का समुच्चय संहिता है। संहिताएँ चार हैं—

1. ऋग्वेद संहिता,
2. यजुर्वेद संहिता,
3. सामवेद संहिता,
4. अथर्ववेद संहिता।

इन समस्त संहिताओं का संकलन यज्ञों की आवश्यकताओं के अनुरूप वेदव्यास मुनि ने किया था। ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् भी पृथक्-पृथक् किसी-न-किसी वेद से अवश्य संबंधित हैं। प्रत्येक वेद के अपने-अपने ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद् हैं। यद्यपि यह साहित्य विभिन्न समय में बना होगा तथापि उसमें एकता है। वेद, भारतीय विश्वास के अनुरूप ब्रह्मा के विश्वास से उत्पन्न एवं ऋषियों द्वारा दृष्ट हैं। यही नहीं, परवर्ती उपनिषद् साहित्य तक की समस्त रचनाओं को ब्रह्मा के द्वारा ही निर्मित माना गया है। यद्यपि भारतीय दर्शनों में मत-वैचित्र्य प्राप्त होता है किन्तु वेद के प्रमाण एवं सत्ता को सभी स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त साहित्य से सम्बद्ध कुछ अन्य प्रकार के ग्रन्थ भी हैं, जिनको कल्प-सूत्र Manuals on Ritual कहा जाता है। उनको तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

(i) श्रौत सूत्र—बड़े-बड़े यज्ञों के नियम इनमें निहित हैं, वे यज्ञ जो कि दीर्घकाल तक निरन्तर होते रहते थे।

(ii) गृह्यसूत्र—गृह्यसूत्रों का प्रमुख विषय गृहस्थ जीवन है। इनमें मनुष्यों के आचार, कर्तव्य, जन्म, मृत्यु, विवाह आदि के विशेष नियम समाहित हैं।

(iii) **धर्मसूत्र**—धार्मिक और आध्यात्मिक नियमों के प्राचीनतम ग्रन्थ—
Books of instruction on Spiritual and Secular law the oldest law books of the Indians ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों की भांति सूत्र ग्रन्थों का भी चारों वेदों में से किसी-न-किसी से प्रत्येक का सम्बन्ध है—As a matter of fact they originated in certain Vedic schools which set themselves the task of the study of a certain Veda. परन्तु ये सूत्र ग्रन्थ मनुष्यकृत हैं। वस्तुतः ये वेदांगों से संबंधित हैं।

भारतीय संस्कृति के विकास में अपनी प्राचीनता तथा व्यापक प्रभाव के कारण वैदिक साहित्य का निर्विवाद रूप से अत्यधिक महत्त्व है, न केवल अपने सुसंगठित, सुरक्षित, विस्तृत वाङ्मय की प्राचीनता के कारण, न केवल अपने वाङ्मय के अत्यन्त व्यापक प्रभाव के कारण वैदिक भारत के धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में अपने शाश्वतिक प्रभाव के कारण भी भारतीय साहित्य में वैदिक साहित्य का अपना प्रमुख स्थान है।

विषय-वस्तु के विभाजन के आधार पर वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इन चारों वेदों में ऋत्विजों के आधार पर मन्त्रों का संकलन किया गया है। यज्ञ कार्य के सम्पादन के लिए ऋत्विजों की आवश्यकता होती है। ऋत्विज चार होते हैं—(1) होता, (2) अध्वर्यु, (3) उद्गाता, (4) ब्रह्मा। यज्ञ के अवसर पर देवता-विशेष की प्रशंसा में मन्त्रों का सविधि उच्चारण करते हुए देवता का आह्वान करने वाला होता नामक ऋत्विज होता है। होता के कार्य के लिए अभीष्ट मन्त्रों का संकलन ऋग्वेद में है। प्राचीनतम ऋचाओं के इस वेद के दस मण्डलों में 1028 सूक्त एवं लगभग 10472 ऋचायें संगृहीत हैं। इस ऋग्वेद का पाठ-भेद के आधार पर अनेक शाखाओं का उल्लेख मिलता है किन्तु प्रधानतः पांच शाखाओं का निर्देश मिलता है। आजकल जो ऋग्वेद संहिता प्रचलित है, उसका सम्बन्ध शाकल शाखा से है। अन्य शाखाओं में वाष्कल, आश्वलायन, सांख्यायन और माण्डूकायन हैं। सिद्धान्ततः यह माना जाता है कि जिस वेद की जितनी शाखाएं होंगी, उसके उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् भी होंगे; किन्तु आजकल ऋग्वेद संहिता के केवल दो ब्राह्मण, दो आरण्यक तथा दो उपनिषद् ही मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. ऐतरेय ब्राह्मण तथा कौषीतकी ब्राह्मण,
2. ऐतरेय आरण्यक तथा कौषीतकी आरण्यक,
3. ऐतरेय उपनिषद् तथा कौषीतकी उपनिषद्।

इनके अतिरिक्त ऋग्वेद से सम्बद्ध एक आश्वलायन श्रौत सूत्र भी मिलता है।

यजुर्वेद संहिता गद्य वाक्यों का समूह है, जो अध्वर्यु नामक ऋत्विज् यज्ञ के समय उपयोग करता है। अध्वर्यु का कार्य है—यज्ञों का विधिवत् सम्पादन

करना। अतः यह यजुर्वेद मुख्यतः यज्ञानुष्ठानों से ही संबंधित है। कभी-कभी इस वेद को, कर्मकाण्डीय वेद भी इसलिए कह दिया जाता है। इस वेद के दो भाग हैं, जो कृष्ण यजुर्वेद तथा शुक्ल यजुर्वेद कहलाते हैं। इस वेद के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ मिलती हैं—1. माध्यन्दिन तथा 2. काण्व। माध्यन्दिन शाखा का उत्तरी भारत में अधिक प्रचार है तथा काण्व शाखा दक्षिण में। इस संहिता से सम्बद्ध एक ब्राह्मण ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण है तथा सम्बद्ध आरण्यक का नाम बृहदारण्यक है तथा उपनिषदों के नाम ईशोपनिषद् तथा बृहदारण्यकोपनिषद् हैं। कृष्ण यजुर्वेद की चार संहितायें या शाखाएँ उपलब्ध हैं, जिनके नाम क्रमशः 1. तैत्तिरीय, 2. मैत्रायणी, 3. काठक तथा 4. कपिष्ठल हैं। कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध ब्राह्मण का नाम तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा आरण्यक का नाम तैत्तिरीय आरण्यक है। कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध तीन उपनिषद् हैं—तैत्तिरीयोपनिषद्, मैत्रायणी उपनिषद् तथा कठोपनिषद्। इस संहिता से सम्बद्ध आठ सूत्रग्रन्थ भी मिलते हैं, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—1. आपस्तम्ब कल्पसूत्र, 2. बौद्धायन श्रौतसूत्र, 3. हिरण्यकेशी कल्पसूत्र, 4. भारद्वाज श्रौतसूत्र, 5. मानव श्रौतसूत्र, 6. मानव गृह्यसूत्र, 7. वाराह गृह्यसूत्र, 8. काठक गृह्यसूत्र।

सामवेद संहिता का संकलन उदगाता नामक ऋत्विज् के लिए हुआ है। उदगाता का कार्य है कि वह यज्ञों में आवश्यक मन्त्रों को स्वर सहित उच्च स्वर से गान करें। उदगाता शब्द का अर्थ ही है उच्च स्वर से गाने वाला व्यक्ति। इस वेद में ऋचाओं का ही संकलन है और उन्हीं ऋचाओं का जो कि गेय है। इस वेद की ऋचाओं की संख्या 1,875 है और अधिकांश ऋग्वेद से उद्धृत की गई हैं। इस वेद की बहुत थोड़ी ऋचाएँ हैं, जो मौलिक अथवा स्वयं अपने में स्वतन्त्र हैं। सामवेद का विभाजन दो रूपों में हुआ है—(1) पूर्वार्चिक और (2) उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक को अग्नि, इन्द्र, सोम तथा अरण्य सम्बन्धी विषय-वस्तु के आधार पर चार पर्वों में विभक्त किया गया है। जिनके नाम क्रमशः आग्नेय पर्व, ऐन्द्र पर्व, पवमान पर्व तथा आरण्यक पर्व हैं। उत्तरार्चिक में दशरात्र, संवत्सर, सत्र, प्रायश्चित आदि यज्ञानुष्ठानों का विधान है। सामवेद की सहस्रों शाखाओं का उल्लेख होने पर भी आज केवल तीन शाखाएँ ही उपलब्ध हैं—1. कौथुम, 2. राणायनीय तथा 3. जैमिनीय। इन तीनों शाखाओं का प्रचार क्रमशः गुजराती ब्राह्मणों में, महाराष्ट्रीय तथा कर्नाटक प्रदेश में है। सामवेद सम्बद्ध चार ब्राह्मण ग्रन्थ हैं—1. तांड्य ब्राह्मण, 2. षड्विंश ब्राह्मण, 3. सामविधान ब्राह्मण तथा 4. जैमिनीय ब्राह्मण। साथ ही इस वेद के दो आरण्यक तथा तीन उपनिषद् भी मिलते हैं—छान्दोग्य आरण्यक, जैमिनीय आरण्यक, छान्दोग्योपनिषद्, केनोपनिषद् तथा जैमिनीय उपनिषद्। साथ ही इस वेद से सम्बद्ध सात सूत्र-ग्रन्थ भी मिलते हैं, जो कि संहिताओं से इस प्रकार से सम्बद्ध हैं—

1. कौथुम संहिता—

- (1) मशक कल्पसूत्र, (2) लाटय्या श्रौतसूत्र, (3) गोभिल गृह्यसूत्र।

2. राणायनीय संहिता—

(4) द्राह्यायण श्रौतसूत्र, (5) खदिर गृह्यसूत्र।

3. जैमिनीय संहिता—

(6) जैमिनीय श्रौतसूत्र, (7) जैमिनीय गृह्यसूत्र।

अथर्ववेद संहिता

वेदत्रयी शब्द में समाहित होने वाले वेदों में ऋक्, यजु तथा साम की गणना होती है। पुरुष सूक्त में भी ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद का उल्लेख मिलता है, किन्तु अथर्ववेद का नहीं। लेकिन परवर्ती साहित्य में अन्य तीन वेदों के साथ अथर्ववेद भी चतुर्थ वेद माना गया है। अथर्ववेद में संगृहीत मन्त्र आयु वृद्धि, प्रायश्चित्त और पारिवारिक एकता के लिए है तथा दुष्ट प्रेतात्माओं-राक्षसों के निवारण तथा शाप मोचन के लिए हैं, कुछ मन्त्रों में मारण-मोहन उच्चाटन की क्रियाएँ भी निहित हैं। साथ ही कुछ मन्त्र आध्यात्मिक भावों से संबंधित हैं। ऋग्वेद के मन्त्रों की पुनरावृत्ति भी है। अथर्ववेद की रचना यज्ञ विधान के लिए न होकर यज्ञ में उत्पन्न होने वाले विघ्नों के निवारण के लिए हुई है। इस वेद के मन्त्र यज्ञ संरक्षण ब्रह्मा नामक ऋत्विज् के लिए है। ब्रह्मा नामक ऋत्विज का कार्य यज्ञ का निरीक्षण है। यज्ञानुष्ठान में होने वाली त्रुटि का वह समाधान करता है। त्रुटि होने पर तुरन्त मंगलकारी मन्त्रों का उच्चारण करके ब्रह्मा उस विघ्न का निवारण कर देता है। इस प्रकार के समस्त मन्त्रों का संग्रह स्वरूप यह अथर्ववेद है। इस वेद में 20 काण्ड हैं, जो 34 प्रपाठक, 111 अनुवाक, 731 सूक्तों में विभक्त हैं। इस वेद में कुल मिलाकर 5849 मन्त्र हैं। अथर्ववेद की 9 शाखाओं का उल्लेख मिलता है; किन्तु आजकल केवल दो शाखाएँ ही प्राप्त हैं, जिनके नाम क्रमशः पिप्पलाद तथा शौनक हैं। पिप्पलाद शाखा के अधिकांश ग्रन्थ लुप्तप्राय हैं, केवल प्रश्नोपनिषद् ही उपलब्ध है। अथर्ववेद की द्वितीय शाखा शौनक अधिक प्रसिद्ध है। इस वेद के गोपथ ब्राह्मण तथा मुण्डक, माण्डूक्य नामक दो उपनिषद् तथा दो सूत्र ग्रन्थ वैतान श्रौतसूत्र तथा कौशिक गृह्यसूत्र भी प्राप्त हैं।

रचना-विधान एवं समय के आधार पर वेदों की रचना प्राचीनतम है। किन्तु जब वेदों के मन्त्रों के विस्तृत व्याख्यान की आवश्यकता अनुभव हुई तब ब्राह्मण साहित्य का प्रणयन हुआ। इन ग्रन्थों में मूलतः यज्ञ एवं ब्राह्मण धर्म का ही वर्णन किया गया है। वैसे ब्राह्मणों, यजमानों के कर्तव्यों का भी निर्देश हुआ है। सृष्टि-उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त, शब्द-व्युत्पत्ति एवं शब्दों का व्याख्यात्मक इतिहास तथा अन्यान्य जनकथाओं का भी उल्लेख इनमें मिलता है, जिनमें तत्कालीन सामाजिक जीवन के चित्र देखने को मिलते हैं। ब्राह्मणों के अन्तिम अंश आरण्यक कहलाते हैं। इन आरण्यकों के पाठ रहस्यपूर्ण हैं। इन ग्रन्थों में वेदों के आध्यात्मिक पक्ष का विवेचन है। यज्ञों की क्रिया और अनुष्ठानों के साथ

ही साथ यज्ञ-रहस्य और पौरोहित्य का भी विवेचन है। अरण्य में पढ़े जाने के कारण इन ग्रन्थों का नाम आरण्यक है। आरण्यक साहित्य की विषय-वस्तु का विस्तार उपनिषदों में है। उपनिषदों की वैसे तो संख्या 250 तक पहुंच चुकी है; किन्तु विद्वानों ने एकादशोपनिषदों—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यकोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद् को प्रधानतः स्वीकार किया है। उपर्युक्त उपनिषदों में से कुछ गद्यात्मक हैं, कुछ पद्यात्मक हैं और कतिपय गद्य-पद्यात्मक उभयरूप। प्राचीनता एवं महत्त्व की दृष्टि से इन उपनिषदों में छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक का विशिष्ट स्थान है। उपनिषदों में प्राधान्येन दार्शनिक तत्त्व का निरूपण हुआ है। ज्ञानकाण्ड के अन्यतम ग्रन्थों में से ये उपनिषद् हैं। वैदिक साहित्य की अन्तिम कड़ी के रूप में उपनिषद् साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वेदांग—वैदिक साहित्य अध्ययनाध्यापन की सुव्यवस्था के लिए जिस साहित्य का निर्माण हुआ है, उस साहित्य को हम सूत्रसाहित्य कहते हैं। इस सूत्रसाहित्य को वेदांग की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। ये वेदांग संख्या की दृष्टि से छह हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष। इस वेदांग साहित्य को वेदों के साथ सम्बद्ध करने के लिए व्याकरण को वेद का मुख कहा जाता है, ज्योतिष को नेत्र, निरुक्त को श्रोतृ, कल्प को हाथ, शिक्षा को नासिका और छन्द को पाद कहा गया है।

शिक्षा का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—वह विद्या जो स्वर, वर्ण आदि उच्चारण के प्रकार का उपदेश दे—“स्वरवर्णाद्युच्चारण प्रकारोऽत्र शिक्षते सा शिक्षा”। वेद पाठ में स्वरों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वर की अशुद्धि से महान् अनर्थ की संभावना रहती है। पाणिनीय शिक्षा में लिखा है कि जो मन्त्र स्वर से या वर्ण से हीन होता है, वह मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता है। वह तो वाग्वज्र बनकर यजमान का ही नाश कर देता है। जैसे कि स्वर के अपराध से ‘इन्द्र शत्रु’ शब्द यजमान का ही विनाशक सिद्ध हुआ—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा। मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।।

स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति। यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात्।।

—पा.शि. श्लोक 52

शिक्षाग्रन्थों में प्रातिशाख्य प्रमुख है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य, अथर्ववेद प्रातिशाख्य, वाजसनेयी प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य तथा सामवेद के भी दो मुख्य प्रातिशाख्य हैं—एक, पुष्प सूत्र; दूसरा, ऋक् तन्त्र। इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य शिक्षाग्रन्थ भी हैं—पाणिनीय शिक्षा, याज्ञवल्क्य शिक्षा, वाशिष्ठी शिक्षा, कात्यायनी शिक्षा, पाराशरी शिक्षा, मांडव्य शिक्षा, अमोधानन्दिनी शिक्षा, वर्णरत्न प्रदीपिका, केशवीय शिक्षा, मल्लशर्म शिक्षा, स्वरांकुश शिक्षा, षोडश, श्लोकीय शिक्षा, अवसाननिर्णय शिक्षा, स्वरभक्तिलक्षण शिक्षा, नारदीय शिक्षा, माण्डूकी

शिक्षा। इस प्रकार सम्पूर्ण शिक्षा साहित्य इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन भारत में भाषाशास्त्र का कितना गम्भीर विवेचनात्मक सूत्र रूप में अध्ययन किया गया था।

कल्प—कल्प का अर्थ है वेद में निहित कर्मों का क्रमपूर्वक व्यवस्थित कल्पना करने वाला शास्त्र “**कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पना शास्त्रम्**”—ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञयागादि का विधान इतना प्रौढ़ तथा विस्तार को प्राप्त हो गया था कि उसकी सहज जानकारी के लिए उनको क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करने का कार्य नितान्त आवश्यक प्रतीत हुआ। युगानुरूप इन ग्रन्थों का निर्माण सूत्र शैली में हुआ था। कल्प-सूत्रों को विद्वानों ने चार भागों में विभक्त किया है—**1. श्रौतसूत्र, 2. गृह्यसूत्र, 3. धर्मसूत्र, 4. शुल्वसूत्र**। श्रौतसूत्रों में ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित श्रौत अग्नि दक्षिण, आहवनीय और गार्हपत्य—इन तीन अग्नियों में सम्पाद्यमान यज्ञयागादिक अनुष्ठानों का वर्णन है। गृह्यसूत्रों में गृह्याग्नि में होने वाले यागों तथा विभिन्न संस्कारों का सर्वांगीण वर्णन है। साथ ही समाज में प्रचलित प्रथाओं का भी वर्णन है। धर्मसूत्रों में चातुर्वर्ण्य एवं चारों आश्रमों के कर्तव्यों, विशेषतः राजा के कर्तव्यों का विशिष्ट प्रतिपादन है। इन धर्मसूत्रों में रीति—नीति, धर्म एवं प्रथाओं आदि का भी संकेत मिलता है। शुल्वसूत्रों में यज्ञवेदी के निर्माण से सम्बद्ध रीति का विशिष्ट प्रतिपादन है।

ऋग्वेद के दो श्रौतसूत्र हैं—**1. आश्वलायन तथा 2. शांखायन** और दो गृह्यसूत्र हैं—**1. आश्वलायन गृह्यसूत्र तथा 2. शांखायन गृह्यसूत्र**। यजुर्वेदीय कल्पसूत्रों में शुक्ल यजुर्वेद का एकमात्र श्रौतसूत्र कात्यायन श्रौतसूत्र है तथा गृह्यसूत्र भी एकमात्र पारस्कर गृह्यसूत्र है। कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध इन श्रौत सूत्रों की उपलब्धि होती है—**1. बोधायन श्रौतसूत्र, 2. आपस्तम्ब, 3. हिरण्यकेशीया सत्याषाढ, 4. वैखानस, 5. भारद्वाज तथा 6. मानव श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्रों में—**
1. आपस्तम्ब, 2. हिरण्यकेशी, 3. बोधायन, 4. मानव काठक, 5. भारद्वाज, 6. वैखानस गृह्यसूत्र। सामवेदीय कल्पसूत्रों में प्राचीनतम आर्षेय कल्पसूत्र है, जो अपने रचयिता के नाम पर मशक कल्पसूत्र के नाम से भी अभिहित किया जाता है। वैसे सामवेद की तीनों शाखाओं के अपने-अपने श्रौतसूत्र तथा अपने-अपने गृह्यसूत्र हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—**1. कौथमशाखा—लाट्यायन श्रौतसूत्र, गोभिलगृह्यसूत्र, 2. राणायनीय शाखा—द्राह्ययण श्रौतसूत्र, खदिरगृह्यसूत्र, 3. जैमिनीय शाखा—जैमिनीय श्रौतसूत्र, जैमिनीय गृह्यसूत्र, अथर्ववेद का कल्पसूत्र, विभिन्न ऋषियों द्वारा प्रणीत है। इस वेद के श्रौतसूत्र का नाम है वतान श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र का नाम है कौशिक जो कि अथर्ववेद का एकमात्र गृह्यसूत्र है।**

धर्मसूत्र कल्प के अविभाज्य अंग हैं। नियमतः प्रत्येक शाखा का एक-एक अपना विशिष्ट धर्मसूत्र होना चाहिए किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। आश्वलायन, शांखायन तथा मानव शाखा के श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्र दोनों ही प्राप्य हैं किन्तु उनका धर्मसूत्रात्मक अंश प्राप्त नहीं है। केवल बोधायन, आपस्तम्ब तथा

हिरण्यकेशी के धर्मसूत्र पूर्णतः मिल जाते हैं। धर्मसूत्रों में प्राप्त प्राचीनतम ग्रंथ गौतम धर्मसूत्र माना जाता है, जिसका सम्बन्ध सामवेद से है। इसके अतिरिक्त हारीत का धर्मसूत्र तथा शंख लिखित धर्मसूत्र भी मिलता है।

व्याकरण—व्याकरण शब्द की व्युत्पत्ति—**व्याक्रियन्ते शब्दा अनेन इति व्याकरणम्** अर्थात् जिसके द्वारा सुबन्त तिङ्न्त आदि पदों की व्याख्या की जाती है वह व्याकरण है। व्याकरण वेद पुरुष का मुख है 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्'। इस वेदांग का एकमात्र उद्देश्य वेदों के अर्थ को समझना और वेदार्थ की रक्षा करना है। आजकल व्याकरण के प्राप्त ग्रन्थों में प्राचीनतम ग्रन्थ पाणिनिकृत अष्टाध्यायी है; किन्तु पाणिनि मुनि से पूर्व आचार्यों में गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन, भारद्वाज आदि अनेक आचार्यों का उल्लेख विभिन्न व्याकरण के ग्रन्थों में मिलता है। वैसे तो इस अष्टाध्यायी से भी पूर्व व्याकरण के ग्रन्थों में प्रातिशाख्य भी स्वीकार किए जा सकते हैं। व्याकरण के पाणिनि के परवर्ती प्रमुख आचार्यों में महाभाष्यकार पतंजलि तथा वार्तिककार कात्यायन का नाम सम्मानपूर्वक लिया जाता है। इन तीनों व्याकरण-आचार्यों के उपरान्त इस सम्प्रदाय में आचार्यों की एक लम्बी सूची है जो कि उपर्युक्त तीन आचार्यों की कृतियों पर ही अपने विचार लिखते-लिखाते रहे हैं। आजकल पाणिनीय व्याकरण को ही आधार मानकर रचित व्याकरण के ग्रंथों का अध्ययन हो रहा है।

निरुक्त—निरुक्ति निघण्टु नामक वैदिक शब्दकोष की टीका है। सर्वप्रथम निरुक्त में ही वेदों के कठिन शब्दों की व्याख्या की गई है। प्राप्त निरुक्तों में सर्वाधिक प्राचीन यास्क कृत निरुक्त ही है। यास्क ने अपने से पूर्ववर्ती 13 निरुक्ताचार्यों का उल्लेख किया है। निघण्टु के रचयिता महाभारत के उद्धरण के अनुसार प्रजापति कश्यप हैं। निरुक्त पद की व्याख्या सायणाचार्य के अनुसार इस प्रकार है—

“अर्थाऽवबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्र उक्तं तत् निरुक्तम्” अर्थात् अर्थ की जानकारी के लिए स्वतन्त्र रूप से जो पदों का संग्रह है, वही निरुक्त है। टीकाकार दुर्गाचार्य के कथानुसार अर्थ के परिज्ञान के कारण यह अंग इतर वेदांगों तथा शास्त्रों से प्रधान है क्योंकि अर्थ प्रधान होता है और शब्द गौण। इस प्रकार महत्त्व की दृष्टि से निरुक्त भी वेदांगों में प्रमुख है।

छन्द—छन्द वेद रूपी शरीर के पाद हैं। वेद के मन्त्रों के यथार्थ उच्चारण के निमित्त छन्दों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। छन्दों के परिज्ञान के बिना मन्त्रों का उच्चारण तथा पाठ का समुचित रूप से उच्चारण कदापि नहीं हो सकता। कात्यायन ने स्पष्ट ही लिखा है कि जो व्यक्ति छन्द, ऋषि तथा देवता के ज्ञान से हीन होकर मन्त्र का अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन करता है, उसका वह कार्य सदा ही निष्फल होता है। वेद के मन्त्र तो सर्वथा छन्दोबद्ध हैं, अतः छन्दों का ज्ञान प्राप्त किए बिना वेद मन्त्रों का यथार्थ उच्चारण कैसे संभव है? इसलिए वैदिक ऋषियों ने छन्दों के परिज्ञान के लिए स्वयं पृथक् ग्रन्थों की

रचना की है। इसमें ऋग्वेद का प्रातिशाख्य सूत्र, सामवेद का निदान सूत्र, पिंगल का छन्द सूत्र तथा शाखायान के श्रौतसूत्र प्रमुख हैं। इन सभी ग्रन्थों में जैसे वैदिक छन्दों का ही विशेष विवेचन है, किन्तु पिंगलाचार्य द्वारा रचित छन्द इस वेदांग का प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

ज्योतिष—वेदांगों के अन्तर्गत ज्योतिष अन्तिम वेदांग है। वेद की प्रवृत्ति यज्ञ सम्पादन के लिए तथा यज्ञ समय-विशेष की अपेक्षा रखते हैं। इसी समय विशेष के निर्देश के लिए ज्योतिष की आवश्यकता है। नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास, ऋतु तथा संवत्सर-काल के समस्त खण्डों के साथ यज्ञों का निर्देश वेदों में उपलब्ध है। वेदांग ज्योतिष के प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं—एक याजुष ज्योतिष जिसका यजुर्वेद से सम्बन्ध है एवं दूसरा आर्च ज्योतिष जिसका सम्बन्ध ऋग्वेद से है। इन दोनों ही ग्रन्थों में वैदिक कालीन ज्योतिष का वर्णन उपलब्ध होता है। वेदांग ज्योतिष के कर्ता का नाम लगध था—

**प्रणम्य शिरसा कालमभिवाद्य सरस्वतीम् ।
कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः ।।**

—आर्च ज्योतिष श्लोक 21

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि यज्ञ भाग के विभिन्न विधानों के यथार्थ निर्वाह के लिए ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान नितान्त अपरिहार्य है। इसलिए वेदांग ज्योतिष का यह आग्रह है कि जो व्यक्ति ज्योतिष को अच्छी प्रकार से जानता है वही यज्ञ का यथार्थ ज्ञाता है। यज्ञ ज्ञान के लिए ज्योतिष के महत्त्व को परवर्ती ज्योतिषाचार्य भास्कराचार्य ने भी स्वीकार किया है।

वेदों की सुरक्षा के लिए इस वेदांग साहित्य के अतिरिक्त पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ, घनपाठ एवं ऋषि देवता और छन्दों की अनुक्रमणिका नामक ग्रन्थों का भी निर्माण हुआ है।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि वैदिक साहित्य का एक विशाल साहित्य है। भारतीय ज्ञान का यह एक आगार है। विश्व-संस्कृतियों का मार्गदर्शक है।

भारतीय साहित्य पर वेदों का प्रभाव

भारतीय संस्कृति के विकास में अपनी प्राचीनता अपनी बहुमुखी उपयोगिता तथा व्यापक प्रभाव के कारण वैदिक साहित्य का अपना अद्वितीय स्थान है। न केवल अपने सुग्रथित, सुरक्षित और विस्तृत वाङ्मय की अति प्राचीन परम्परा, अपनी भाषा और वाङ्मय के अत्यन्त व्यापक प्रभाव के कारण अपितु भारत के धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में अपने शाश्वत प्रभाव के कारण भी वैदिक साहित्य अभूतपूर्व महत्त्व रखता है। यही नहीं, वैदिक साहित्य आशामय, नवीन प्राणप्रद स्फूर्ति प्रदाता होने के कारण तथा सार्वभौम, सार्वकालिक, सन्देशवाहक होने के कारण एवं परवर्ती समस्त लौकिक

साहित्य की विधाओं का उपजीव्य होने के कारण भी भारतीय जनजीवन के लिए उपयोगी है।

वैदिक साहित्य को आधार मानकर अधिकांश परवर्ती साहित्य का सृजन हुआ है। भारतीय साहित्य में वेदों के पश्चात् ब्राह्मण साहित्य आता है। यह ब्राह्मण ग्रन्थ (साहित्य) वास्तव में वैदिक ऋचाओं के भाष्य ही हैं। इनमें वैदिक कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक अवस्थाओं का अंकन है; इनमें वैदिक कर्मकाण्ड का विस्तृत व्याख्यात्मक वर्णन है। यही नहीं, इन ग्रन्थों में वेद की दार्शनिक मान्यताओं का उद्घाटन हुआ है तथा वैदिक आख्याओं का पल्लवन। प्रत्येक वेद के अपने-अपने ब्राह्मण हैं। विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रत्येक वेद के पश्चाद्दर्ती इतिहास की झलक भी मिलती है।

ब्राह्मण साहित्य के पश्चात् आरण्यक साहित्य का स्थान है। वैदिक यज्ञ के रहस्य एवं दार्शनिक तत्त्वों का विचार वानप्रस्थियों द्वारा संगृहीत किया गया है। उपनिषद् साहित्य का भी विकास वेद एवं आरण्यकों को उपजीव्य (आधार) मानकर हुआ है। इस साहित्य में वेद निरूपित आत्मा, परमात्मा एवं ब्रह्म का विचार किया गया है। वेद का "एकं सद्दिप्रा बहुधा वदन्ति" वाला एकात्मकवाद का सिद्धान्त बहुत महत्त्व पाया है। वैदिक साहित्य में इस उपनिषद् साहित्य का स्थान सबसे अन्त में होने के कारण यह साहित्य वेदान्त के नाम से अभिहित किया जाता है। वस्तुतः इस उपनिषद् साहित्य में भारतीय ऋषियों ने गम्भीरतम चिन्तन से जिन आध्यात्मिक तत्त्वों का साक्षात्कार किया, उसका यहाँ युक्तिसंगत वर्णन हुआ है। वस्तुतः वैदिक तत्त्वों का उपनिषद् साहित्य अमूल्य कोष है।

ब्राह्मण साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग सूत्र रूप में लिखा गया। कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ का प्रतिपादन करने वाले छोटे-छोटे वाक्यों में सब महत्त्वपूर्ण विधि-विधान प्रकट किये जाने लगे। इन सारगर्भित वाक्यों को सूत्र कहा जाता है। यह साहित्य वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञ-यागादि पर प्रकाश डालता है। इनके मूल वेद ही हैं। इस सम्पूर्ण सूत्र साहित्य पर भी वेदों के कर्म-काण्डीय मन्त्रों की छाप है। सूत्र साहित्य के रचनाकारों में गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, वसिष्ठ के नाम प्रसिद्ध हैं।

वैदिक साहित्य के जटिलतम होने के कारण वेद के अर्थों तथा विषयों को स्पष्ट करने के लिए वेदांग साहित्य का विकास हुआ, जिसमें शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष नामक षड् वेदांग प्रसिद्ध हैं। यह समस्त साहित्य वेदों की व्याख्या ही है। व्याकरण को वेद का मुख, ज्योतिष को नेत्र, निरुक्त को श्रोत, कल्प को हाथ, शिक्षा को नासिका, छन्द को पाद (पैर) कहते हैं। जब उपर्युक्त साहित्य वेदों की व्याख्या ही करता है तब उसके ऊपर वैदिक साहित्य का कितना प्रभाव है, यह बतलाने का प्रश्न ही नहीं उठता है। वह तो वस्तुतः वेदमय ही है।

स्मृतियाँ भी वैदिक धारणाओं को ही पल्लवित करती हैं, इस साहित्य में उन नियमों, कर्तव्यों एवं अधिकारों को स्पष्टतः विभक्त कर वैदिक राजधर्म, अभिषेक, समावर्तन, गृहस्थ धर्म, चातुर्वर्ण्य व्यवस्था, नैतिकता आदि के सिद्धान्तों का वर्गीकरण कर मानवों के सम्मुख यह साहित्य प्रस्तुत हुआ है। स्मृतियों में यत्र-तत्र स्पष्ट शब्दों में घोषित किया गया है कि—

**“धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः” तथा
“वेदोऽखिलो धर्ममूलम्”**

इन स्मृतियों के उदाहरणों से वैदिक साहित्य का स्मृति साहित्य पर महत्त्व एवं प्रभाव स्वतः स्पष्ट हो जाता है। विद्वानों का मत है कि वेद स्वतः प्रमाण हैं और स्मृति परतः प्रमाण है। आशय इसका यही है कि स्मृतियाँ वैदिक साहित्य के मन्तव्यों का ही प्रकाशन करती हैं।

इसके पश्चात् अब रामायण महाभारत तथा उसके भी परवर्ती साहित्य पर वैदिक साहित्य के प्रभाव को देखने का प्रयास करेंगे। रामायण और महाभारत दोनों ही ग्रन्थ इतिहास के ग्रन्थ हैं।

इन दोनों ही ग्रन्थों में वैदिक आदर्शवाद, मान्यता एवं आचार-विचार को इतिहास के मिश्रण के साथ प्रतिपादित किया गया है और उनका जन-सामान्य में प्रचार किया गया है। श्रुति प्रतिपादित आचार-शास्त्र के ये ग्रन्थ व्यावहारिक निदर्शन हैं, यह कहना ही वस्तुतः समुचित होगा।

रामायण-महाभारत के बाद का समग्र साहित्य अधिकांश में रामायण व महाभारत से कथानकों को लेकर ही पल्लवित हुआ है और आज भी वह विकास धारा सतत प्रवाहित है। इसके अतिरिक्त पुराणों का भारतीय साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। पुराणों का लक्षण—

**सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम् ॥**

इससे यह आशय सहज ही निकाला जा सकता है कि वैदिक सृष्टि विकास की विचारधारा का पल्लवन इन पुराणों में भी है।

लौकिक साहित्य की कथाओं के मूल स्रोत वैदिक आख्यान ही हैं। उर्वशी पुरुरवा की कथा, विष्णु वामन की कथा विभिन्न रूपों में विभिन्न साहित्यों में विस्तार के साथ अंकित है। भास के अधिकांश नाटक महाभारत के प्रभाव से प्रभावित हैं, महाभारत का उपजीव्य वेद ही है। रघुवंश का मन्वन्तर निरूपण मेघदूत में निरूपित प्रवृत्तियाँ, आचार-विचार रामायण पर आधारित हैं और रामायण का नैतिक आदर्श वैदिक साहित्य से जीवनीय तत्त्व गृहीत करता है। यह ठीक है कि पैशाचिक भाषा की वृहत्कथा के अनेक अंशों से स्वतन्त्र रचनाएँ की गई हैं किन्तु सदाचार की पद्धति वही प्राचीन है। धर्मयज्ञ के प्रति आस्थानिरूपण चातुर्वर्ण्य की पुनरावृत्ति आदि से वेद का प्रभाव वहाँ भी बना हुआ है।

इसके पश्चात् विचारधारा कुछ परिवर्तित हुई दृष्टिगत होती है, किन्तु इसके भी नैतिक मूल्य अधिकांश वैदिक हैं। बौद्ध साहित्य में भी सदाचार पूर्ण ब्राह्मण की पूजा का निर्देश है। 'अक्रोध से क्रोध को जीतें' सत्य अहिंसा, प्रियवचन, सदाचार आदि की शिक्षाएँ वैदिक ही हैं। यज्ञ की अति का निषेध करने के लिए भक्ति और ज्ञान, दर्शन की परम्परा का ग्रहण उपनिषद् साहित्य से किया गया है। उपनिषद् भी प्रतीकात्मक रूप में यज्ञों का वर्णन करती है। बौद्धधर्म में भी वर्ण-व्यवस्था या यज्ञ का विरोध नहीं है, अपितु यज्ञों को निमित्त बनाकर की जाने वाली हिंसा का विरोध है। बौद्ध-धर्म के पिटक-साहित्य में ऐसे अनेक उद्धरण प्राप्त हैं। आत्म वचन की प्रामाणिकता वैदिक पद्धति पर ही जैन व बौद्ध मानते हैं। गुरु का महत्त्व, ज्ञान की पवित्रता आदि मान्यताएँ वैदिक ही हैं। जहाँ ब्राह्मण ग्रन्थों में दुःखनाश अभीप्सित है, वहीं जैन व बौद्ध भी चाहते हैं, तृष्णा का क्षय औपनिषदिक तत्त्व है। इसी तृष्णा क्षय के लिए बुद्ध का अत्यधिक आग्रह है। इस प्रकार अनेक वैदिक सिद्धान्तों को जैन व बौद्ध स्वीकार करते हैं। इसके साथ ही साथ बौद्ध और जैन सम्प्रदाय के कुछ मौलिक विचार भी हैं जो बुद्ध और महावीर की वाणी पर आधारित हैं।

षड् दर्शनों में वेदांत व मीमांसा वेद एवं उपनिषद् की विचारधारा का प्रतिपादन करते हैं; वैशेषिक व न्याय वेदों को ईश्वरकृत मानकर शब्द प्रमाण की प्रामाणिकता स्थापित करते हैं। सांख्य भी यज्ञों को स्वीकार करता है; किन्तु अनित्य सुख की अपेक्षा वह उपनिषदों के नित्य सुख को चाहता है "येनाहं नामृता स्याम तेन किं कुर्याम्" याज्ञवल्क्य की पत्नी की यह महत्त्वाकांक्षा दर्शनों के लक्ष्यरूप में सर्वत्र दिखाई देती है। योग भी वेद के महत्त्व को स्वीकार करता है।

आज के हिन्दी और संस्कृत आलोचक समस्त साहित्यिक विधाओं का उद्गम वेदों में खोजने का प्रयास करते हैं और अधिकांश विधाओं का उद्गम स्थल वेदों को स्वीकार भी कर चुके हैं।

भारतीय जीवन में तपोवनों का महत्त्व कितना है, यह किसी से छिपा नहीं है। अनेक गुरुकुलों एवं विद्यापीठों की स्थापना इन्हीं तपोवनों में हुआ करती थी और पुराणों का क्षेत्र माहात्म्य इसी का परिणाम है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि सन्त तुलसीदास ने भी अपने रामचरितमानस में वैदिक साहित्य के महत्त्व को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि मैंने "नानापुराणनिगमागम सम्मत" ही अपने काव्य का निर्माण किया है। ज्यामिति का विकास यज्ञमंडल में नापी जाने वाली भूमि के आधार पर हुआ होगा, यह सहज कल्पना की जा सकती है। पर इसी प्रकार तन्त्र शास्त्र का बहुत कुछ आधार अथर्ववेद में है, ऐसा कहा जाता है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि भारतीय जन-जीवन के दैनन्दिन कार्यकलाप तक में जब वैदिक साहित्य समाया हुआ है तो उस समाज से निर्मित साहित्य अपने पूर्ववर्ती अमर साहित्य के प्रभाव से कैसे बच सकता है? एक भारतीय आर्य

का जीवन गर्भाधान-संस्कार से आरम्भ होकर अन्त्येष्टि-संस्कार पर्यन्त अतीत युग की वैदिक संहिताओं की प्रतिध्वनि नहीं तो क्या है?

उपर्युक्त अत्यन्त संक्षिप्त रूपरेखा से वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक भारतीय सम्पूर्ण वाङ्मय पर वेदों का अक्षुण्ण एवं मौलिक प्रभाव तथा महत्त्व स्वतः सिद्ध होता है।

वास्तव में वेद की मौलिकता एवं महत्ता आज भी अक्षुण्ण है।

पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि

वैदिक साहित्य का विश्व के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह कहना समीचीन ही होगा कि वेद भारतीय ही नहीं, विश्व के मनीषियों के लिए ज्ञान स्रोत रहे हैं। वैसे तो भारतीय संस्कृति के विकास में अपनी प्राचीनता और अपने बहुमुखी व्यापक प्रभाव के कारण वैदिक धारा का निर्विवाद रूप से अत्यधिक महत्त्व है।

भारत में अंग्रेजों द्वारा भारतीय साहित्य के अध्ययन का क्रम वारेन हेस्टिंग्स के समय से प्रारम्भ होता है, जिसका मुख्य उद्देश्य अंग्रेज न्यायाधीशों की सहायता करना ही था। हेस्टिंग्स ने ब्राह्मणों से एक पुस्तक "विवादारणव सेतु" को लिखवाया, जिसमें पारिवारिक कानून एवं Indian Law Inheritance का वर्णन है। इसका संस्कृत से फारसी में तथा फारसी से अंग्रेजी में भी अनुवाद हुआ।

चार्ल्स विल्किंस ने सर्वप्रथम संस्कृत सीखी। इन्होंने 1785 में गीता का अंग्रेजी में अनुवाद किया, यही नहीं, इसके दो वर्ष बाद हितोपदेश तथा 1795 में अभिज्ञान शाकुन्तलम् का अनुवाद किया। 1808 में व्याकरण की पुस्तक लिखी। विलियम जोन्स (1746-1794) जैसे न्यायाधीश ने भी एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना कर अनेक संस्कृत ग्रन्थों का प्रकाशन किया। विलियम जोन्स ने 1789 में शाकुन्तलम् का अनुवाद प्रकाशित किया, 1782 में ऋतुसंहार तथा सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य जो इन्होंने किया, वह था—मनुस्मृति (1794) का अनुवाद।

हेनरी टॉमस कॉलबुक (1765-1837) ने जोन्स के अनुवाद कार्य को बढ़ाने के साथ ही भारतीय भाषा-विज्ञान एवं पुरातत्व के अध्ययन को आरम्भ किया। यह व्यक्ति 17 वर्ष की आयु में 1782 में कलकत्ता आया था तथा इसने जोन्स के पथ-प्रदर्शनानुसार संस्कृत ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद प्रारम्भ किया। कानूनी पुस्तकों का अनुवाद भी किया। वैज्ञानिक पुस्तकों की ओर भी हाथ बढ़ाया। दर्शन, धर्म, व्याकरण, ज्योतिष, अंकगणित-विषयक अनेक निबन्ध भी लिखे। 1805 में On the Vedas नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा। अमरकोश आदि कोश-ग्रन्थों का भी सम्पादन किया। एक और भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया, वह था अनेक भारतीय ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों को एकत्र करना।

इनके अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण व्यक्ति अलैकजेण्डर हैमिल्टन (Alexander Hamilton-1765-1824) है। इन संस्कृत सीखने वाले व्यक्तियों में फ्रेडरिक

श्लेगेल (Fredrick Schlegle) का नाम महत्त्वपूर्ण है। श्लेगेल रोमान्टिक स्कूल के व्यक्तियों में से हैं। इन्होंने 1808 से On the Language and Wisdom of the Indians नामक पुस्तक लिखकर जर्मन में संस्कृत पढ़ने के लिए न जाने कितने व्यक्तियों को आकृष्ट किया। इसी काल में श्लेगेल ने जर्मनी में भारतीय भाषा-विज्ञान का भी शिलारोपण किया। श्लेगेल ने रामायण, महाभारत, गीता, मनुस्मृति तथा शाकुन्तल कथा के आंशिक अनुवाद प्रस्तुत किए। वास्तव में इसी व्यक्ति ने सर्वप्रथम संस्कृत से जर्मन भाषा में इन ग्रंथों के अनुवाद किए। फ्रेडरिक श्लेगेल के भाई A.W. Von Schlegel ने 1814 में फ्रेंच प्रोफेसर Chezy से संस्कृत सीखी, जो कि स्वयं प्रथम फ्रेंच विद्वान् था, जिसने संस्कृत पढ़ी और दूसरों को पढ़ाई थी। वॉन श्लेगेल विश्वविद्यालय में संस्कृत का प्राध्यापक बना और उसने गीता का अनुवाद, रामायण का सम्पादन तथा भाषा-विज्ञान विषयक कार्य भी किए। Fraz Bopp (फ्रेज बॉप) ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, रामायण, महाभारत के अनुवाद, नल-दमयन्ती कथा का लैटिन अनुवाद किया। Wilhelm Von Hemholdt का नाम भी तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में सदैव अविस्मरणीय रहेगा। यही नहीं, इस व्यक्ति ने गीता का भी सुन्दरतम अनुवाद किया। इसी प्रकार जर्मन विद्वान् Ruckert ने अनुवाद के क्षेत्र में अनुपम कार्य किया है। इस समय तक जो भारतीय वाङ्मय पाश्चात्य विद्वानों ने अध्ययन एवं प्रकाशन किया, उनमें अभिज्ञानशकुन्तलम्, मनुस्मृति, गीता, रामायण, महाभारत, हितोपदेश के अनुवाद एवं एतद्विषयक अनुसंधान ही थे। वैदिक साहित्य अभी तक इनसे अज्ञात था, बौद्ध साहित्य भी पूर्णतया परिचित नहीं था, उपनिषदों की भी यही स्थिति थी। वैसे 17वीं शताब्दी में उपनिषदों का फारसी में अनुवाद दारा शिकोह ने अवश्य ही किया था; किन्तु पश्चिम के देश अपरिचित ही थे। 1838 में Friedrich Rosen ने ऋग्वेद का आंशिक संस्करण प्रकाशित किया; किन्तु इस व्यक्ति की अकाल मृत्यु से यह कार्य पूर्ण न हो सका। फ्रेंच विद्वान् Eugene Burnouf ने अपने कुछ शिष्यों को एकत्र करके वेदों का अध्ययन केन्द्र स्थापित किया। इन शिष्यों में Rudolf Roth और F. Maxmuller का नाम मुख्य है—Roth ने ऋग्वेद पर अंग्रेजी टीका की। इनकी पुस्तक On the Literature and History of Veda 1846 में प्रकाशित हुई। Maxmuller ने सायण की टीका सहित ऋग्वेद का प्रकाशन कराया। यह एक उत्कृष्ट कार्य था।

वूह्लर और कीलहार्न ने संस्कृत साहित्य कोश को तैयार कर महत्त्वपूर्ण कार्य किया। संस्कृत साहित्य का सर्वप्रथम इतिहास ग्रंथ लिखने वाले Aprecht Weber 1852 को संस्कृत के विद्वानों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। Therdor Aufrecht के Catalogus Catalogorum की भी उपेक्षा कैसे की जा सकती है? अन्य बहुत से पाश्चात्य विद्वान् जिन्होंने भारतीय संस्कृति एवं साहित्य का अनुसंधानात्मक कार्य किया, वे हैं—मैक्डानल हॉपकिंस, हार्विट्ज, विन्टरनिट्ज पार्जिटर, ओल्डनवर्ग, पीटर्सन, हर्टल, ऐजर्टन, रिजवी, कीथ आदि।

रॉथ महोदय ने वेदों के अनुवाद में ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया है। इन्होंने भाषा-विज्ञान तथा तुलनात्मक धर्म का सहारा लेकर ऐतिहासिक पद्धति को अपनाकर 'सेन्टपीटर्स वर्ग संस्कृत जर्मन महाकोश' का निर्माण किया है। यह रॉथ महोदय के अध्यवसाय एवं विद्वत्ता का परिचायक है। इस ग्रंथ में प्रत्येक शब्द का अर्थ विकासक्रमानुरूप वैदिक एवं लौकिक ग्रंथों के उद्धरणों के साथ दिया गया है।

पश्चिमी विद्वानों द्वारा किये गये वैदिक साहित्य विषयक कार्य को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

1. वैदिक ग्रंथों का संस्करण,
2. वैदिक ग्रंथों का अनुवाद,
3. वैदिक इतिहास विषयक ग्रंथ।

वैदिक साहित्य के अध्येताओं में मैक्समूलर का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। मैक्समूलर ने ऋग्वेद के सायण-भाष्य का सर्वप्रथम विवेचनापूर्ण सम्पादन किया है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के उपरान्त पाश्चात्य विद्वानों ने पर्याप्त लगन से यहां के ग्रंथों का सम्पादन, अनुवाद आदि कार्य प्रारम्भ किया। मैक्समूलर महोदय की द्वितीय कृति 'वैदिक संस्कृत साहित्य' है, जिसमें इन्होंने वैदिक साहित्य के विषय में पर्याप्त विचार-विमर्श किया है। इसके साथ ही साथ पवित्र प्राच्य ग्रंथमाला में अनेक विद्वानों के लेखों व अनुवादों को प्रकाशित किया है।

वैदिक साहित्य के अध्येताओं में डॉ. वेबर का नाम बहुत प्रसिद्ध है। अद्वितीय प्रतिभाशाली इस विद्वान् ने यजुर्वेद संहिता तथा तैत्तिरीय संहिता का प्रकाशन किया है। यही नहीं, इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य इनका "इन दशेस्तूदियन" नामक जर्मन शोध-पत्रिका का प्रकाशन है। इसमें अनेक लेख और अनुवादों का प्रकाशन हुआ है। इसी परम्परा में आउफ्रेक्ट नामक विद्वान् द्वारा रोमन-लिपि में प्रकाशित ऋग्वेद का संस्मरण भी है। जर्मन विद्वानों ने मैत्रायणी संहिता तथा काठक संहिता का प्रकाशन भी किया है।

पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक श्रौत सूत्रों का भी प्रकाशन किया है। आश्वलायन तथा पारस्कर गृहसूत्र के सम्पादन स्टेन्सर, शांखायन श्रौतसूत्र के सम्पादक हिलेब्राण्ट, बोधायन श्रौतसूत्र के सम्पादक कैलेण्ड, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के सम्पादक गार्वे, मानव श्रौतसूत्र के सम्पादक कनाउएर (Kanuer) कात्यायन श्रौतसूत्र के सम्पादक वेबर तथा कौशिक श्रौतसूत्र के सम्पादक ब्लूमफील्ड ने किया है।

अनुवाद

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा संस्कृत भाषा के क्षेत्र में किये गये कार्यों को कभी भुलाया नहीं जा सकता। इन विद्वानों ने जहां प्राचीन ग्रंथों के संस्करण

निकाले वहां अनुवाद कार्य भी किया है। सन् 1850 में डॉ. विलसन ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का सायणभाष्य सहित अनुवाद प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद का एक अनुवाद ग्रामसन महोदय ने जर्मन भाषा में किया। इसके कुछ समय बाद ही ग्रीफिथ महोदय ने ऋग्वेद का अंग्रेजी में अनुवाद किया। इस अनुवाद कार्य में ग्रीफिथ ने सायण भाष्य का भी पूरा-पूरा उपयोग किया है। जर्मन विद्वान् डॉ. ओल्डनवर्ग ने ऋग्वेद की एक विवेचनापूर्ण व्याख्या की है। इससे उन्होंने प्रत्येक सूक्त के ऊपर विशद विवेचन किया है। स्थान-स्थान पर प्राप्त विद्वानों के विचारों का उल्लेख किया है। ओल्डनवर्ग महोदय ने एक अन्य कार्य ऋग्वेद के छन्द आदि के विषय में किया है। ऊपर निर्दिष्ट सभी अनुवाद ग्रंथ ऋग्वेद के अध्ययन के लिए सहायक एवं प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं।

यजुर्वेदीय माध्यन्दिन शाखा का अंग्रेजी में एक अनुवाद ग्रीफिथ ने किया है। डॉ. कीथ का तैत्तिरीय संहिता का अनुवाद भी उल्लेखनीय कार्य है। ग्रीफिथ महोदय का सामवेदीय अंग्रेजी पद्यानुवाद तथा ग्रीफिथ एवं हिवटनी का अथर्ववेद का अनुवाद भी वैदिक साहित्य के जिज्ञासुओं के लिए एक उपादेय ग्रन्थ है। ऋग्वेद ऐतरेय एवं कौषीतिकी ब्राह्मण का डॉ. कीथ का अनुवाद सुन्दर है, उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है उनकी सौ पृष्ठों वाली भूमिका। सामवेद विषयक विचारों से युक्त तांडय महाब्राह्मण का डॉ. कैलेण्ड कृत अनुवाद अपने में पूर्ण है। इस ग्रंथ में यत्र-तत्र कर्मकाण्ड विषयक विचार भी दे दिये गये हैं।

वैदिक व्याकरण के सम्बन्ध में कुछ ग्रंथ पाश्चात्य विद्वानों ने लिखे हैं। हिवटने ने यद्यपि लौकिक संस्कृत से सम्बद्ध व्याकरण का ग्रंथ ही लिखा है; किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से वैदिक व्याकरण को भी लिया गया है। डॉ. मैकडानल का वैदिक व्याकरण (Vedic Grammar 1910 जर्मनी) व्याकरण विषयक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसी प्रकार डॉ. वाकरनागेल का वैदिक व्याकरण जर्मन भाषा में लिखित अपने विषय का प्रौढ़ ग्रंथ है।

पुराण साहित्य के ऊपर पाश्चात्य विद्वानों ने अनुपम कार्य किया है। इसमें वैदिक धर्म का अन्य धर्मों से तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। वैदिक धर्म पर प्रो. मैक्समूलर, मैकडानल तथा जर्मन विद्वान् हिलेब्राण्ट ने अनेक ग्रंथ लिखे हैं। जर्मन भाषा में लिखित हिलेब्राण्ट की विदेशिमथोलोजी एक वृहदाकार रचना है। इसके अतिरिक्त डॉ. मैकडानल का वैदिक मैथोलोजी भी एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। डॉ. कीथ रचित 'रिलीजन एण्ड फिलासोफी ऑफ वेद एण्ड उपनिषद्' नामक ग्रंथ वैदिक धर्म तथा उपनिषद् के तत्त्व ज्ञान की एक प्रामाणिक मीमांसा करने वाला ग्रन्थ है।

वैदिक ऐतिहासिक ग्रन्थ

वैदिक साहित्य के इतिहास विषयक ग्रंथों की रचना भी इन यूरोपीय विद्वानों ने की है, जिनमें डॉ. वेबर का 'वैदिक साहित्य तथा इतिहास' वैदिक

साहित्य का परिचय देने वाला सर्वप्रथम ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ पहले जर्मन भाषा में निकला था; किन्तु बाद में इसका अंग्रेजी में भी अनुवाद किया गया था। मैक्समूलर महोदय का 'हिस्ट्री ऑफ एनशियेण्ट संस्कृत लिटरेचर' नामक वैदिक साहित्य का सूक्ष्म परिचय देने वाला एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसी प्रकार मैकडानल महोदय का 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' नामक ग्रंथ वैदिक साहित्य का विशेषतः परिचय देता हुआ प्रारम्भिक ज्ञान के इच्छुक छात्रों के लिए उपयोगी ग्रंथ है। ऊपर निर्दिष्ट ग्रंथों के अतिरिक्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर' जो कि ऊपर बताये तीनों ग्रंथों की अपेक्षा अधिक व्यापक एवं पूर्ण विवेचन करने वाला ग्रंथ है। यह ग्रंथ तीनों भागों में पहले जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ था, किन्तु बाद में इसके दो भागों का अंग्रेजी में अनुवाद कलकत्ता विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया है।

वैदिक काल निर्धारण

भारतीय साहित्य के समय निर्धारण का प्रश्न आज भी निर्णायक रूप में स्वीकृत नहीं किया जा सका है; समय निर्धारण की कितनी ही समस्याएँ अद्यावधि सुलझाने को हमारे सामने उपस्थित हैं। इस दिशा में जितना भी आज तक प्रयत्न किया गया है; वह सब मात्र अनुमान के आधार पर ही है। वेदों के काल निर्धारण के सम्बन्ध में विद्वानों के विचारों में हजारों वर्षों का अन्तर देखा जाता है। इसी प्रकार रामायण, महाभारत का भी काल निर्णय निश्चित नहीं है। जैकोबी रामायण की रचना 600 ई.पू. स्वीकार करते हैं, परन्तु मैकेडॉनल्ड 500 ई.पू. मानते हैं। महाभारत का रचनाकाल विण्टरनिट्ज 400 ई.पू. के लगभग मानते हैं। भास, अश्वघोष तथा कालिदास के समय निर्धारण का भी प्रश्न निश्चित नहीं है। इन्हीं सब समस्याओं को देखकर अमेरिकन विद्वान् W.D. Whitney ने अपनी संस्कृत ग्रामर की भूमिका में लिखा है कि भारतीय साहित्य के इतिहास में दी हुई समस्त तिथियां कागज में लगाई हुई उन पिनों के समान हैं, जो इच्छानुसार निकाल ली जाती हैं (All dates given in Indian literary History are pins set up to be bowled down again.)। भारत एवं पाश्चात्य देशों में इतिहास शब्द के अर्थ में मौलिक भेद है। इतिहास शब्द से पश्चिम में केवल तिथियों का ज्ञान ही पर्याप्त माना जाता है, किन्तु भारत में सदा से ही इतिहास का अर्थ संस्कृति एवं सभ्यता लिया गया है। संस्कृति एवं सभ्यता की रक्षा से सम्बद्ध मानवीय विभूतियों को यहां सदा से महत्त्व दिया जाता रहा है। इसीलिए यहां के साहित्य में बौद्धिक, आध्यात्मिक जीवन के सूक्ष्मतम चित्रों एवं विकास की गाथा का सफल अंकन हुआ है। यहां की विचारधारा भी इस दिशा में प्रधान कारण है। कर्म और भाग्य का सिद्धान्त, मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोने पर विश्वास तथा वैज्ञानिक मनोवृत्ति का अभाव आदि कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो इतिहास के प्रणयन में बाधक हैं। भारत में आज के अर्थों में राष्ट्रीयता का सदा अभाव रहा है। फलतः ऐतिहासिक तत्त्व अधिक नहीं उभर सके हैं। भारतीय परम्परा

पूर्ववर्ती या सम-सामयिक राजाओं के इतिहास और प्रशस्ति काव्यों के निर्माण की अपेक्षा रामायण-महाभारत के पात्रों से सम्बद्ध नायकों के चरित्र को अपनी कृतियों के लिए चुनते रहते हैं और यदि किसी कवि ने सम-सामयिक राजा की प्रशस्ति का गान किया है तो वह समाज में प्रशंसा एवं सम्मान उतना नहीं प्राप्त कर सका, जितना रामायण-महाभारत के चरित्र नायकों के गान करने वालों ने प्राप्त किया है। इसके अतिरिक्त यहां के ग्रंथों के निर्माण एक व्यक्ति से नहीं, उनके सम्पूर्ण परिवार के परिश्रम के परिणाम होते हैं, उदाहरण के लिए ऋग्वेद की अनेक ऋचाएँ अनेक परिवार के ऋषियों की रचनाएँ हैं। इसी से सम्बद्ध एक और तथ्य यह भी है कि यहां एक ही नाम की उपाधि-सी चल निकलती है, जैसे—व्यास एवं विक्रमादित्य। फलतः ऐतिहासिक तत्त्वों के विश्लेषण में व्याघात उपस्थित हो जाता है। बहुत से नाम कुटुम्ब या गोत्र के ऊपर चल निकलते हैं। उनमें भी यही कथा निहित है। यदि किसी ग्रंथकार का नाम मिलता भी है तो उनके माता-पिता का नाम नहीं होता; तो दूसरी ओर एक ही नाम के अनेक रचनाकार हो जाते हैं। यदि भाषा के आधार पर निर्णय करना चाहें तो वह भी नहीं हो पाता; उदाहरण के लिए कालिदास और अश्वघोष को लें तो भाषा की प्रांजलता और सौष्टव देखकर यही कहेंगे कि कालिदास अर्वाचीन हैं, किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है और यदि लेखन-शैली को आधार बनाकर अध्ययन करें तो वह भी समीचीन नहीं होता, क्योंकि कुछ साहित्यकार व्यक्तिगत नाम की अपेक्षा ग्रंथ को अधिक प्रसिद्ध करना चाहते हैं। अतः किसी प्राचीन ग्रंथ की शैली को अपनाकर एक नूतन काव्य साहित्य की सृष्टि वे कर डालते हैं। फलतः वह कृति प्राचीन समझ ली जाती है। भाषा-शैली में एक बात और भी है, वह यह कि ग्रंथों के मुद्रण यंत्रों के अभाव में स्मरण के आधार पर उनके अनेक संस्करण मिलते हैं, जिससे भाषा का स्वरूप भी कुछ निर्धारित नहीं हो पाता है। इसलिए भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में Relative Chronology ही दी जा सकती है। यही कहा जा सकता है कि यह इससे पुराना है, वह इससे। किन्तु कभी-कभी यह Relative Chronology भी समय-निर्धारण में सहायक नहीं हो पाती है।

किन्तु यह कहना कि भारतीय इतिहास सत्य से सर्वथा अपरिचित है, नितान्त अनुचित होगा; क्योंकि कल्हण की राजतरंगिणी एवं विल्हण का विक्रमांकदेव चरित, पद्मगुप्त रचित नवसाहसांक चरित, बाणभट्टकृत हर्ष चरित आदि ग्रंथों में अनेकानेक ऐतिहासिक निर्णायक तत्त्वों का समावेश है।

वेदों की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए भाषा साक्ष्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध एवं जैन साहित्य का काल निर्णय अनिश्चित नहीं है। विभिन्न शिलालेख, मन्दिर, सिक्के, ध्वंसावशेष आदि इनके इतिहास की ओर संकेत कर रहे हैं। बौद्ध धर्म का उदयकाल 500 ई.पू. है। बौद्ध साहित्य में वैदिक साहित्य के संकेत सूत्र मिल ही जाते हैं। अतः वैदिक साहित्य निश्चय प्राक्-बौद्धकालीन है। भारतीय साहित्य की तिथि के विषय में अधिक निश्चित सूचना बाह्य साक्ष्य से प्राप्त होती है। सिकन्दर ने 326 ई. में भारत पर आक्रमण किया था। इसके द्वारा ग्रीक

प्रभावित साहित्य का काल निर्णय किया जा सकता है। इसी के आधार पर ज्ञात होता है कि 315 ई.पू. में चन्द्रगुप्त मौर्य सिंहासनासीन हुआ। इसी के कुछ दिन बाद मेगस्थनीज सेल्युकस के राजदूत के रूप में चन्द्रगुप्त के दरबार में आया। इसके द्वारा लिखित भारतीय सांस्कृतिक अवस्था के उल्लेखों को विभिन्न ग्रंथों को देखकर उन ग्रंथों का रचना-काल निश्चित किया जा सकता है। 264 ई.पू. में अशोक का राजगद्दी पर बैठना इतिहास विदित घटना है। उसके द्वारा उत्कीर्ण शिलालेख धार्मिक एवं साहित्य के इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण उपकरण हैं। 178 ई.पू. में पुष्यमित्र ने मौर्य वंश के अन्तिम राजा को पदच्युत किया था। इस पुष्यमित्र का उल्लेख कालिदास ने अपने ग्रंथ में किया है।

चीनी साक्ष्य के आधार पर भी भारतीय साहित्य की तिथियां निश्चित की जा सकती हैं। प्रथम ईसवी शती में बौद्ध उपदेशक चीन गये और उन्होंने वहां चीनी में बौद्ध साहित्य का अनुवाद किया। चीनी अनुवादों की तिथियाँ निश्चितप्रायः हैं। फाह्यान सन् 399 में भारत में आया। ह्वेनसांग 630 ई. से 645 ई. तक तथा इत्सिंग 671-695 तक भारत भ्रमण करते रहे। इन यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्त सुरक्षित हैं, जो कि हमारे ऐतिहासिक अध्ययन में पर्याप्त सहायता करते हैं।

किन्तु सर्वथा यह नहीं समझना चाहिए कि भारतीयों में ऐतिहासिकता का सर्वथा अभाव रहा है। भारत में अनेक ऐतिहासिक कृतियां हैं, जिनका ऊपर संकेत किया जा चुका है। निश्चित तिथि से युक्त अनेक शिलालेख हैं; परन्तु यह ठीक है कि वे तथ्य (fact) तथा कहानी (fiction) को पृथक् रूप में वर्णन करना नहीं जानते हैं। अपने यश की अपेक्षा उन्हें अपने ग्रन्थ का सम्मान अधिक प्रिय है किन्तु उत्तरकालिक साहित्यकारों ने अपनी कृतियों में अपने नाम, वंश-परिचय, वंश वृक्ष, तिथि आदि का भी संकेत किया है। 5वीं शती के बाद के शिलालेखों से भी लेखकों के बारे में निश्चित सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। ऐतिहासिक तत्त्वों का अभाव होते हुए भी भारतीय ग्रंथ ऐतिहासिक जानकारी से सर्वथा अनभिज्ञ रहे हैं, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता है। निष्कर्ष रूप में यही कहना अधिक समीचीन है कि भारतीय न तो इतिहास तत्त्व से अपरिचित हैं और न ही यहां ऐतिहासिकता का अभाव है। पाश्चात्यों एवं भारतीयों के ऐतिहासिक दृष्टिकोण में अन्तर है।

अध्याय-2

संहिता काल

ऋग्वेद का रचनाक्रम

ऋग्वेद चारों वेदों में प्राचीनतम है। ऋग्वेद में प्राचीनतम भारतीय आदर्श, मर्यादा, ज्ञान एवं मानवता के समग्र चित्र मूर्तिमान हो उठा है। यह कहना अनुचित न होगा कि यह विशाल ग्रंथ भारतीय ऋषि मुनियों के अन्तरतम का दर्पण है। इस संहिता को संक्षेप में ऋग्वेद इस नाम से भी अभिहित किया गया है, क्योंकि यह छन्दोबद्ध है—छन्दोबद्ध को पद्यात्मक मन्त्रों में ऋक् या ऋचा कहते हैं। संहिता शब्द का अर्थ है संग्रह; इस प्रकार ऋचाओं का विशाल संग्रह ही ऋग्वेद संहिता है। इस ग्रंथ में दस मण्डल कुल मिलाकर 10600 ऋचाएँ हैं जो कि 1028 सूक्तों में विभक्त हैं। यत्र-तत्र भारतीय ग्रंथों में ऋग्वेद की अनेक शाखाओं का उल्लेख मिलता है—महाभाष्य जैसे प्राचीनतम ग्रन्थ (150 ई.पू.) में इक्कीस शाखाओं का निर्देश है; किन्तु परवर्ती साहित्य में केवल पांच शाखाओं का विवरण ही मिला है। शौनकचरणव्यूह नामक परिशिष्ट ग्रंथ में ऋग्वेद की शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, सांख्यायन और माण्डूकायन नामक पांच शाखाओं का नामोल्लेख मिलता है; किन्तु आजकल प्राप्त एवं प्रचलित शाखा का नाम शाकल है। ऋक् प्रातिशाख्य के अनुसार शाकल शाखा ही मुख्य और आदि शाखा है। वाष्कल नामक शाखा भी जीर्ण-शीर्ण रूप में मिली है। वह भी शाकल के समान ही है। वाष्कल शाखा के अनुसार ऋग्वेद का अष्टकों, अध्यायों और वर्गों में विभाजन किया गया है तथा शाकल के अनुसार मण्डल अनुवाक और सूक्तों में। शाकल-विभाजन ही वैज्ञानिक तथा प्रामाणिक होने से अधिक व्यवहार में लाया जाता है।

ऋग्वेद का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन भी सिद्ध कर दिया है कि इसके सूक्तों की भाषा प्राचीनतम है। भारतीय साहित्य में ऋग्वेद से पूर्व की अन्य कोई रचना नहीं है। समग्र भारतीय साहित्य एवं भारतीय जीवन ऋग्वेद को प्राचीनतम स्वीकार करता है। छन्दों से भी वेद की प्राचीनता सिद्ध होती है, क्योंकि वैदिक एवं लौकिक संस्कृत के छन्दों में पर्याप्त अन्तर है। वैदिक साहित्य के अनेक छन्द परवर्ती साहित्य में अनुपलब्ध हैं। भौगोलिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं के वर्णन में भी ऋग्वेद की प्राचीनता विदित होती है।

ऋग्वेद की भाषा एवं विषय के गम्भीर विवेचन के पश्चात् विद्वानों ने यह मान्यता स्थापित की है कि ऋग्वेद के दूसरे से सातवें मण्डल तक के सूक्त अपेक्षाकृत प्राचीन हैं। पाश्चात्य विद्वान् इन मण्डलों का पारिवारिक पुस्तकें (Family Books) अर्थात् कुल मण्डल के नाम से अभिहित करते हैं क्योंकि दूसरे मण्डल से सातवें मण्डल तक प्रत्येक मण्डल का सम्बन्ध केवल एक ऋषि या उसके वंश से है। क्रमशः उन ऋषियों के नाम हैं—गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव,

अत्रि, भारद्वाज और वशिष्ठ। अष्टम मण्डल का सम्बन्ध प्रधानतः कण्व ऋषि के वंश से है। नवम मण्डल के ऋषि कुल-मण्डल के ऋषियों में से ही हैं—“अथ ऋषयः शतर्चिनो माध्यमा गृत्समदो विश्वामित्रो वामदेवोऽत्रिभरद्वाजो वसिष्ठः प्रगाथाः पावमान्यः क्षुद्रसूक्ताः महासूक्त इति” (आश्वलायन गृह्यसूत्र 6/4/2)। प्राच्य विद्वानों के अनुसार ये ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा हैं, रचयिता नहीं अर्थात् उन्होंने योग एवं तपोबल इन मन्त्रों का प्रथम बार दर्शन किया था। ये मन्त्र स्वयं अनादि हैं परन्तु आधुनिक विद्वान् इन्हें रचयिता मानने लगे हैं। वैदिक अनुक्रमणी में प्रथम, नवम और दशम मण्डल के सूक्तों के रचयिताओं के नाम दिये हुए हैं, जिनमें अनेक महिलाएं भी हैं; इनमें लोपामुद्रा, घोषा, शची, पौलोमी आदि प्रमुख हैं। परन्तु इन नामों के अतिरिक्त अन्य परिचय उपलब्ध नहीं है। ऋग्वेद की ऋचाओं में गुत्समद विश्वामित्र एवं वशिष्ठ ऋषि असंख्य पुराण कथाओं तथा उपाख्यानों के नायकों के रूप में भी वर्णित हैं। फिर उन्हें स्वयं ही इन सूक्तों का कर्ता एवं द्रष्टा कैसे स्वीकार किया जा सकता है। मैकडानल (Maodonell) का अनुमान है कि Family Books द्वितीय मण्डल से सप्तम मण्डल तक का मन्त्र-समूह ही मूलतः ऋग्वेद है। अवशिष्ट अंश परवर्ती काल में इसके साथ सम्बद्ध कर दिया गया है। इस विषय में उनका तर्क यह है कि अष्टम-मण्डल में सप्तम मण्डल की अपेक्षा कम ऋचाओं का होना यह सिद्ध कर देता है कि अष्टम मण्डल कुल मण्डल (Family Books) से भिन्न है। कुल-मण्डल के निर्माण के अनन्तर प्रथम मण्डल के 51-191 तक सूक्त कुल मण्डलों के साथ सम्बद्ध किए गए हैं। इसके बाद 1-50 सूक्त प्रथम मण्डल के तथा आठवें-मण्डल के मन्त्र बने जो कि कण्व ऋषि के परिवार के द्वारा रचित एवं संकलित हैं। प्रथम और अष्टम मण्डल में पर्याप्त समानता है, जो कि दोनों का समान कालीन होना सिद्ध करती है। किन्तु इनमें कौन-सा मण्डल पूर्ववर्ती है तथा कौन-सा परवर्ती है, यह अनुसंधान का विषय है। तथापि यह सुनिश्चित है कि इन्हें Family Books के साथ जोड़कर बाद में विशालाकार ऋग्वेद का भवन खड़ा किया गया है। नवम मण्डल में सोम देवतापारक एवं सोमपान विषयक सूक्तों का गुम्फन हुआ है। यहां यह बात विशेष ध्यान देने की है कि यह विभाजन मन्त्र-बाहुल्य की दृष्टि से ही है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि बीच के समस्त मन्त्र प्राचीनतम एवं अन्य नवीन तथा नवीनतम हैं। दशम मण्डल का संचयन प्रथम नौ मण्डलों के उपरान्त हुआ है। इस मण्डल के सूक्तों में स्थान-स्थान पर पूर्व मण्डलगत सूक्तों का उल्लेख मिलता है तथा उनकी स्पष्ट छाया भी प्रतिबिम्बित दिखाई देती है। विषय एवं आकार की दृष्टि से भी यह रचना पाश्चाद्वर्तिनी प्रतीत होती है। एक अन्य तर्क यह भी प्रस्तुत किया जाता है कि यहां तक आते-आते पहले के अनेक देवताओं का अपना महत्त्व क्षीण हो गया है तथा अनेक नवीन देवता आ गये हैं। उदाहरण के लिए इस मण्डल में इन्द्र और अग्नि की प्रतिष्ठा तो यथावत् है। किन्तु उषस् आदि ने अपना अस्तित्व खो दिया है और प्रजापति जैसे कुछ नवीन देवता भी यहाँ आ गए हैं। भाषा की

दृष्टि से भी दशम मण्डल पाश्चाद्वर्ती सिद्ध होता है। इसमें स्वर संकोच की प्रवृत्ति बढ़ गई है। 'र' की अपेक्षा 'ल' का प्रयोग अधिक होने लगा है। अनेक प्राचीन शब्द लुप्त हो गये हैं एवं नवीन शब्दों का संगठन दिखलाई देने लगा है। अन्त में यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि ऋग्वेद एक समय की रचना नहीं है यह क्रमशः विकसित एवं संचित एक विशाल ज्ञानराशि है, जो शताब्दियों के भारतीय मनीषा के चिन्तन का जाज्वल्यमान परिणाम है। ऋग्वेद की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'खिल' परिशिष्ट जुड़े हुए मिलते हैं, खिल का अर्थ है पूरक (Supplement)। खिल सूक्तों के सम्बन्ध में विन्टरनिट्ज ने लिखा है—

They are texts which were collected and added to the Samhita only after the later had already been concluded. This does not exclude the possibility that some of these khilas, are of no less antiquity than the hymns of the Rigveda, but for some reason unknown to us were not included in the collections.

ग्यारह बाल्यखिल्य सूक्त जो कि अष्टम मण्डल के अन्त में पाये जाते हैं, इन्हें आधुनिक विद्वान् प्राचीनतम मानते हैं; परन्तु यह कहना कठिन है कि ये प्राचीन सूक्त संहिताओं में क्यों नहीं गृहीत हुए। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि संहिताओं के संकलित और सम्पादित होने के पश्चात् किसी अन्य परम्परा से इन सूक्तों को स्मरण करके परिशिष्ट के रूप में गुम्फित किया गया है। इसी प्रकार के कुछ अन्य सूक्त भी हैं, जिनमें से 'शिवसंकल्प' खिल तो वस्तुतः एक उपनिषद् ही है; परन्तु इसका 1-13 तक का अंश ही प्राचीन एवं मान्य है; शेष भाग परवर्ती। ऋग्वेद के सम्पूर्ण विभाजन तथा संकलन को संक्षेप में इस प्रकार देखा जा सकता है। ऋग्वेद का विभाजन दो रूपों में मिलता है—

पहला—अष्टक, अध्याय और वर्ग के रूप में **दूसरा**—मण्डल, अनुवाक और सूक्तों में। मण्डल के अनुसार सूत्र और ऋचाओं की संख्या इस प्रकार है—

मण्डल	सूक्त संख्या	ऋक् संख्या
प्रथम मण्डल	191	2006
द्वितीय मण्डल	43	429
तृतीय मण्डल	62	617
चतुर्थ मण्डल	58	589
पंचम मण्डल	87	727
षष्ठ मण्डल	75	765
सप्तम मण्डल	104	841
अष्टम मण्डल	92	1636
नवम मण्डल	114	1108
दशम मण्डल	191	1754
	1017	10472

ग्यारह बालखिल्य सूक्तों को जोड़ देने पर ऋग्वेद की सूक्त संख्या 1028 एवं मन्त्र संख्या लगभग 10600 हो जाती है।

सिद्धान्ततः वैदिक साहित्य के विषय में यह मान्यता प्राप्त थी कि जिस वेद की जितनी शाखाएँ होंगी, उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् भी होंगे; किन्तु दुर्भाग्यवश समस्त वैदिक साहित्य के उपलब्ध न हो सकने के कारण यह क्रम आज सर्वांशतः ठीक नहीं है। आज ऋग्वेद संहिता के दो ब्राह्मण, दो आरण्यक और दो उपनिषद् मिलते हैं जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

एतरेय ब्राह्मण तथा कौषीतकी ब्राह्मण।

एतरेय आरण्यक तथा कौषीतकी आरण्यक।

एतरेय उपनिषद् तथा कौषीतकी उपनिषद् तथा एक आश्वलायन नामक श्रौतसूत्र भी मिलता है।

विषय-वस्तु

ऋग्वेद का अर्थ है, ऋचाओं का वेद। छन्दोबद्ध मन्त्रों को ऋक् या ऋचा कहा जाता है और वेद शब्द का अर्थ है ज्ञान। ऋचाओं का जो ज्ञान है उसे ऋग्वेद कहते हैं। यद्यपि ऋचाएँ अन्य वेदों में भी संगृहीत हैं; किन्तु ऋग्वेद तो केवल ऋचाओं का ही संग्रहमात्र है “ऋचा से स्तुति की जाती है, जिनकी स्तुति की जाती है उनको देवता कहते हैं।” इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इस संहिता में केवल देवताओं की स्तुतियाँ हैं। किन्तु हम यदि और भी सूक्ष्म अध्ययन करें तो ऋग्वेद के मन्त्र दो प्रकार के मिलते हैं एक तो वे हैं जो कि यज्ञ एवं देवों की स्तुति के प्रयोग में आते हैं, दूसरे वे हैं जिनमें ब्रह्मविद्या, धार्मिक विचार, व्यवहार एवं मान्यताओं का उद्घाटन किया गया है। ऋग्वेद के अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक दशा पर भी प्रकाश पड़ता है। यही नहीं, ऋग्वेद में सृष्टि रचना, दार्शनिक विचार, वैवाहिक रीति, पशु-पक्षी, वृक्षों आदि से सम्बद्ध भी कुछ मन्त्र मिल जाते हैं। ऋग्वेद में कुछ संवाद सूक्त भी मिलते हैं किन्तु अधिकांश मन्त्र विभिन्न देवताओं की स्तुतियों से ही सम्बद्ध हैं। कुछ सूक्त ऐसे हैं जो किसी देव-विशेष से सम्बद्ध नहीं हैं, इनमें जन-जीवन के चित्र हैं।

इन सूत्रों में सरलता, नवीनता, उदात्त भावना, अलंकरण और कल्पना का वैभव देख सकते हैं। कहने का आशय यही है कि वैदिक सूक्तों की रचना यज्ञ एवं देवों की स्तुतियों के लिए ही हुई है किन्तु कुछ सूक्तों में अन्यान्य विषयों का भी समावेश हो गया है।

वैदिक देवताओं का विश्लेषण करते हुए निरुक्तकार क्रमशः उन्हें पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक से सम्बन्ध रखने के कारण तीन प्रकार के मानते हैं। अग्नि, सोम, पृथ्वी आदि देव पृथिवी स्थानीय कहलाते हैं; इन्द्र, रुद्र, वायु आदि

देव अन्तरिक्ष स्थानीय और वरुण, मित्र, उषस्, सूर्य आदि देव द्युस्थानीय। उपर्युक्त देवों को भी चार रूपों में माना गया है—

1. प्राकृतक शक्ति रूप देवता इन्द्र, सूर्य, सविता, पूषा आदि।
2. गृह देवता अग्नि, सोम आदि।
3. कल्पना अथवा भावजन्य मन्यु, श्रद्धा आदि।
4. गौण देवता—गन्धर्व, अप्सरा आदि।

ऋग्वेद के देवता प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। यही नहीं, समस्त देवताओं में अधिकांशतः गुण, शक्ति, तेज आदि में साम्य प्रतिलक्षित होता है। गुणों के आधार पर प्रत्येक देवता की स्तुति की गई है। वैदिक देवताओं में बहुत से देवता युग्म रूप में भी संस्तुत हैं; जैसे—मित्रा वरुण, द्यावा-पृथ्वी आदि तथा कुछ देवता समुदाय रूप में भी स्तुत्य हैं; जैसे—मरुद्गण, आदित्यगण, वसुगण, विश्वेदेवा आदि। कहीं-कहीं अनेक गुण अनेक देवों में समान रूप से परिगणित किये गये हैं, उदाहरण के लिए—हे अग्नि! तुम उत्पन्न होते ही वरुण (अन्धकार के निवारक राज्याभिमानी देव) होते हो। समिद्ध होकर तुम मित्र, (हितकारी) होते हो। समस्त देवगण तब तुम्हारा अनुवर्तन करते हैं। हे देव! तुम हव्यदाता यजमान के इन्द्र हो (50/3/1)। इस प्रकार अग्नि, वरुण, मित्र तथा इन्द्र के रूप में स्तुत एक ही देव है। विभिन्न देवता एक ही शक्ति के रूपान्तरण हैं, उदाहरणतः शक्ति के तीन रूप माने गये हैं—प्रथम, पृथ्वी पर साधारण अग्नि, द्वितीय वायुलोक की विद्युत् अग्नि एवं सूर्य के रूप में तृतीय, पवित्र अग्नि। इस प्रकार अग्नि विद्युत् एवं सूर्य मूलतः एक ही शक्ति के विभिन्न रूप हैं। ऋग्वेद में कहीं-कहीं एकेश्वरवाद की भावना भी परिलक्षित होती है। एक देवता-विशेष मात्र सभी देवताओं का ही नहीं अपितु वह प्रकृति का भी प्रतिनिधि माना गया है। यही एकेश्वरवाद की भावना आगे चलकर वेदान्त के 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' के रूप में प्रतिष्ठित हुई है। ऋग्वैदिक धर्म में एक बात विशेष रूप से देखी जाती है कि ऋग्वेद में प्रत्येक देवता को सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में मान्यता प्राप्त है। वैदिक देवताओं का विग्रह मानवीय है। उन देवताओं के भी मनुष्यों के समान सिर, आंख, भुजा, हस्त, पाद आदि हैं। किन्तु ये छायात्मक हैं जैसा कि अग्नि के स्वरूप वर्णन में अग्नि की ज्वालाएँ ही उनकी जिह्वा हैं। सूर्य की रश्मियाँ ही उसकी भुजाएँ हैं। ऋग्वैदिक देवता विविध आयुध एवं वाहनों के साथ संस्तुत हैं, किन्तु इन्द्र के अतिरिक्त सभी शान्तिप्रिय हैं। तात्कालिक भारतीयों की देवताओं के सम्बन्ध में यह आस्था दृढीभूत थी कि देवता उन्हें दीर्घायुष्य एवं वैभव प्रदान करते हैं। वैदिक देवताओं की एक विशिष्ट विशेषता उनकी चारित्रिक उज्ज्वलता में निहित है। वैदिक धर्म में देवियों का स्थान भी सुरक्षित है किन्तु गौण रूप में। वे मात्र देवताओं की प्रतिच्छाया हैं। कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि ऋग्वेद का निर्माण विशेष रूप में देवों की स्तुति के ही लिए हुआ है। ऋग्वेद में अनेक देवताओं का वर्णन है, जिसमें द्यौ, वरुण, सूर्य, सविता, पूषन्, विष्णु,

अश्विनौ, पर्जन्य, इन्द्र, अग्नि, उषा, सोम आदि प्रमुख हैं। ऋग्वेद में सर्वाधिक स्तुति इन्द्र की ही की गई है। इसके लिए लगभग 250 सूक्तों की रचना हुई है। इन्द्र को वृत्र का मारने वाला, देवताओं का अधिपति देवराज, यज्ञ का अधिष्ठाता, सर्वाधिक शक्तिशाली कहा गया है। यही नहीं, सुख समृद्धि का प्रदाता भी माना गया है। इन्द्र के पश्चात् सूर्य की स्तुति में भी पर्याप्त ऋचाओं का वर्णन है—सूर्य, सविता आदि नामों द्वारा उस प्रकाशमान शक्ति की स्तुति की गई है जो कि हमारे दुःखों का हरणकर्ता, सौख्यदायक ज्ञान का प्रकाशक है। सोम नामक देव का स्तवन भी ऋग्वेद में किया गया है। इसकी शुद्धि दस कुमारिकाएँ करती हैं जो इसकी बहन हैं। अग्नि कार्यो का सर्वप्रिय गृहदेवता है, सूक्तों की संख्या की दृष्टि से संभवतः इन्द्र के बाद इसी की उपासना-स्तुति अधिक हुई है। अग्नि के संस्तावनार्थ लगभग 200 सूक्तों का सृजन हुआ है। ऋग्वेद की ऋचाओं में अग्नि को ही आर्यों का सर्वप्रिय देव, गृह-कार्यो का साधक, अन्तरिक्ष में विद्युत् रूप से, वृद्धि का कर्ता एवं आकाश में सूर्य, चन्द्र में प्रकाश का दाता कहा गया है। अग्नि को गृहपति की संज्ञा दी गई है। यज्ञ के प्रारम्भ में ही उसकी स्थापना एवं आराधना की जाती है। पूषा को पुष्टि-कारक देव एवं पशुओं के संरक्षक के रूप में कहा गया है। पूषा से प्रार्थना की गई है कि आप हमारे पशु धन की रक्षा में सदा तत्पर रहा करें। ऋग्वेद में यम को भी देवता के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। यम से प्रार्थना की गई है कि वह यहां से मृत्यु द्वारा वियुक्त प्राणियों को अन्यत्र कल्याणप्रद स्थान देकर सुख प्रदान करें। द्यौ द्युलोक के देवताओं में सबसे प्राचीन है। यह पृथ्वी के साथ युग्म रूप में संस्तुत है। अनेक सूक्तों में इसे अखिल विश्व का पालक तथा माता-पिता के रूप में सम्बोधित किया गया है। विष्णु की त्रिविक्रम के रूप में स्थापना की गई है। विष्णु वह है जो तीनों लोकों में व्याप्त है। विष्णु वेद में कहीं-कहीं सूर्य का वाचक भी है। इसे उरुगाय भी कहा जाता है। विष्णु देवताओं में सर्वाधिक चतुर है। परवर्ती साहित्य में यही विष्णु अवतारवाद का मूल प्रेरक तत्त्व बन गया है। अश्विनौ ऋग्वेद में युग्मदेव हैं जो कि सूर्य पुत्री सूर्या के साथ स्वर्णिम रथ पर आरूढ़ होकर चलते हैं। इन्हें देवों का वैद्य भी कहा जाता है। मरुत, रुद्र और प्रश्नि के पुत्र एक योद्धा हैं जो कि हाथ में विद्युत् धारण करते हैं, स्वर्णिम रथ इनकी सवारी है। इनके घोड़े चितकबरे हैं। प्रचण्ड ध्वनि करते हैं, इन्द्र की सदैव सहायता करने वाले देवों में से एक हैं। हवा और वर्षा का देव पर्जन्य है। इसकी वृषभ से तुलना की गई है। इसकी स्तुति में केवल तीन सूक्तों की रचना हुई है। उषस् नामक देव की उपासना में काव्यात्मक, मनोरम एवं अलंकृत सूक्तों की रचना हुई है। इसे एक नवयुवती की तरह जाज्वल्यमान देवी के रूप में चित्रित किया गया है, जो कि पूर्व दिशा का द्वार खोलकर धरा पर अवतीर्ण होती है। रुद्र भी एक देवता के रूप में ऋग्वेद में आये हैं, किन्तु उत्तरकालीन रुद्र से ऋग्वैदिक रुद्र का स्वरूप भिन्न है। तीन या चार सूक्तों में इनका स्तवन है यह धनुर्धारी, भयानक एवं अनिष्टकारी देव है।

ऋग्वेद में भावनात्मक देवताओं का भी वर्णन है। उनका आगमन ऋग्वेद के दशम मण्डल में होता है। इनमें से श्रद्धा (Faith), मन्यु (Warth); काम (Desire)..... आदि हैं। ऋग्वेद में गौण देवता रूप में गन्धर्व, अप्सराएँ यत्र-तत्र देखने को मिल जाती है। देवियों में देवमाता अदिति का नाम सम्मान के साथ लिया जाता है।

ऋग्वेद का मुख्य विषय देवताओं की स्तुति ही है किन्तु प्रासंगिक रूप में अन्यान्य विषय भी आ गया है। ऋग्वेद में हमें दार्शनिक विचार भी देखने को मिल जाते हैं। ऋग्वेद में जगत् के स्रष्टा आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध में वैदिक ऋषियों की विचारधारा देखने को मिल जाती है। एक ही तत्त्व को विद्वान् अनेक नामों से पुकारते हैं—

**इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथः दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥**

—ऋ. 1/164/46

इस प्रकार वैदिक धर्म की विचारधारा में एक सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सृष्टिकर्ता को मान्यता प्राप्त है, जिसके अनेक नाम होते हुए अन्ततः वह एक है। दशम मण्डल के पुरुष सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति एक महामानव से मानी गई है, जिसके सहस्र शीर्ष एवं सहस्र पाद हैं। यह पुरुष के रूप में विराट् कल्पना है, जिसके प्रत्येक अंग से अन्यान्य तत्त्वों की उत्पत्ति हुई है। उसके सिर से आकाश, नाभि से वायु, पाद से पृथ्वी, मस्तिष्क से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य एवं श्वास से वायु का उद्भव हुआ है। इसी विचारधारा को सर्वेश्वरवाद के रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि इसमें स्पष्ट ही कहा है कि विश्व में जो कुछ है या होगा, वह पुरुष ही है।

‘पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्’ । (पुरुष सूक्त, मन्त्र-2)

ऋग्वेद में पशु-पक्षियों का वर्णन मिलता है, जिनमें अश्व, गौ, सर्प का उल्लेख है। मण्डूक भी हैं तो वन्य पशुओं में सिंह, हाथी, मृग, वृक (भेड़िया), वराह, महिष, ऋक्ष, कपि आदि हैं। पालतू पशुओं में गो, अश्व के अतिरिक्त भेड़ें, बकरियाँ, गधे, कुत्ते भी मिल जाते हैं। पक्षियों में हंस का उल्लेख मिलता है, जिसके गुणों में जल तथा सोम को पृथक् करना बताया गया है। चक्रवाक का नाम भी ऋग्वेद में एक बार आया है। ऋग्वेद में मयूरी विष दूर करने वाली मानी गई है।

ऋग्वेद में वृक्षादि का वर्णन अत्यल्प है किन्तु दशम मण्डल का 67वां औषधि सूक्त जिसमें अन्यान्य वनस्पतियों के रोग-प्रसारण-शक्ति की प्रशंसा है तो इसी मण्डल के 146वें सूक्त में अरण्यानी की प्रशंसा है। हां लता के रूप में सोम का उल्लेख अनेकशः मिलता है।

असुर-राक्षस वर्णन भी ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होता है। देवों के शत्रु असुर हैं तथा मनुष्यों के शत्रु राक्षस कहलाते हैं।

ऋग्वेद में कुछ ऐसे सूक्तों के दर्शन होते हैं, जिनमें देवताओं की स्तुति, प्रशंसा आदि नहीं है। किन्तु अथर्ववेदीय अभिचार सूक्तों की भांति ही यहां अभिचार सूक्त भी हैं। द्वितीय मण्डल के शकुन विचारपरक दो-तीन सूक्त मिल जाते हैं। पहले मण्डल का 191वां सूक्त विषैले सर्पादि तथा दशम मण्डल का 163वां सूक्त यक्ष्मा रोग निवारक सूक्त है। कुछ सूक्त मरणासन्न व्यक्ति के आयुवर्धक मन्त्रों से युक्त है। सन्तान प्राप्ति विधान परक एक सूक्त (183) दशम मण्डल में विद्यमान है तो इसी मण्डल का 162वां सूक्त बच्चों के विनाशक प्रेतात्माओं का निवारक सूक्त है। यही नहीं, शत्रु विनाश के लिए भी एक सूक्त का सृजन हुआ है तो दूसरी ओर एक पत्नी अपनी सपत्नियों से पति को विमुख कर अपने वश में करने का भी प्रयत्न करती है। इन सूक्तों को हम लौकिक सूक्त कह सकते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद में दसवें मण्डल का 85वां सूक्त विवाह सूक्त है, जिसमें तात्कालिक वैवाहिक प्रक्रिया का सर्वांग निरूपण है। जहां ऋग्वेद में विवाह सूक्त है, वहां अन्त्येष्टिपरक सूक्तों की भी कमी नहीं है। अन्त्येष्टिपरक सूक्तों की संख्या लगभग पांच है। ये पांचों सूक्त दसवें मण्डल के ही हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 164वें सूक्त में प्रहेलिकाएँ भी मिलती हैं, जो अर्थ की दृष्टि से जटिलतम हैं; किन्तु सभी प्रहेलियां दुर्ज्ञेय एवं दुर्बोध नहीं हैं। इस प्रकार की लौकिक रचनाओं को कुछ विद्वानों ने धर्महीन कविता का नाम दिया है। जहां ऋग्वेद में धार्मिक विचारधारा का प्राधान्य है वहां इसमें सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा अनिवार्य जीवन-पालन के साधनों का भी यथास्थान वर्णन मिल जाता है।

ऋग्वेद की विषय-वस्तु पर दृष्टि-निक्षेप करने से हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुंचते हैं कि तात्कालिक परिस्थितियों के अनुरूप मानव जीवन-यापन तथा मानवता के विकास में योग देने वाली समस्त वस्तुओं एवं क्रियाओं का उल्लेख ऋग्वेद में मिल जाता है।

ऋग्वेद के संवादसूक्त अथवा आख्यान साहित्य में कथनोपकथनों का प्राधान्य है, नाटकीयता है, कथावस्तु है, गीतकाव्य जैसी भावभूमियां एवं काव्यात्मकता है, फिर क्यों न इनमें नाटकों, काव्यों जैसी सरसता मिले? इस प्रकार मनोरम कथनोपकथनों से समन्वित संवादसूक्तों की संख्या लगभग बीस है, जिसमें कुछ तो अति प्रसिद्ध हैं, कुछ फुटकर एवं अप्रसिद्ध, जैसे—(1) यम यमी सूक्त 10/10, (2) उर्वशी पुरुरवासूक्त 10/95, (3) सरमापणि सूक्त, (4) सोमसूर्यासूक्त, (5) वृषाकपि सूक्त, (6) श्यायाश्व, (7) अक्ष सूक्त, (8) मण्डूकसूक्त, (9) शनुः शेषसूक्त, (10) वसिष्ठ-विश्वामित्रसूक्त, (11) अगस्तलोपामुद्रासूक्त, (12) अपाला, (13) नचिकेता, (14) गृत्समद, (15) नहुष, (16) इन्द्रवरुण संवाद 4/12,

(17) देवगण एवं अग्नि संवाद 10/52, (18) वरुण अग्नि संवाद (19) इन्द्र-इन्द्राणी संवाद, (20) सुदामा आदि को लेकर अनेक रोचक आख्यान ऋग्वेद में मिलते हैं।

प्रमुख आख्यान ऋग्वेद के दसवें मण्डल के 95वें सूक्त में है, जिसमें 18 ऋचाएं हैं। इन ऋचाओं में राजा पुरुरवा और उर्वशी के मध्य संवाद समाहित है। पुरुरवा मनुष्य है तथा उर्वशी अप्सरा है। चार वर्ष तक दोनों पति-पत्नी के रूप में रहते हैं किन्तु गर्भवती होने पर एक दिन उर्वशी राजा का परित्याग कर कहीं चली जाती है। राजा खोजता हुआ अन्त में उसे अन्य कुछ अप्सराओं के साथ एक सरोवर में जल-क्रीड़ा करते हुए देखता है। उपर्युक्त कथा मात्र ऋग्वेद में निहित है; किन्तु परवर्ती शतपथ ब्राह्मण में यही कथा कुछ विकसित रूप में मिलती है। उर्वशी पुरुरवा की पत्नी बनने के लिए तीन शर्तें रखती है जिनमें से एक यह भी थी कि राजा उर्वशी को कभी नग्न न देखे। राजा शर्तों को स्वीकार कर लेता है। दोनों ही पति-पत्नी रूप में पुनः रहने लगते हैं; किन्तु गन्धर्व लोग उर्वशी को पुनः स्वर्ग में ही लाना चाहते थे। इसलिए अपने अभीष्ट को पूर्ण करने के लिए गन्धर्व एक दिन रात में उर्वशी के पुत्रवत् प्रिय दोनों ही मेमनों की चोरी कर लेते हैं। उर्वशी नींद खुलने पर मेमनों को न देखकर विलाप करती है। पुरुरवा उर्वशी के परितोष के लिए जल्दी से उठकर चोरों को पकड़ने के लिए दौड़ता है। वह जल्दी में यह भूल जाता है कि वह नग्न है। गन्धर्व अपनी योजना को पूर्ण करने के लिए विद्युत् प्रकाश कर देते हैं और राजा उर्वशी को नग्न देख लेता है। शर्त टूटने के कारण उर्वशी राजा को छोड़कर चली जाती है। राजा फिर विरही होकर उर्वशी की खोज प्रारम्भ करता है और खोजते-खोजते वह उर्वशी को अन्य अप्सराओं के साथ एक तालाब में हंसों के रूप में तैरते हुए देखता है। राजा ने उर्वशी से अनेकशः प्रार्थनाएँ साथ चलने के लिए कीं; किन्तु उसने उन्हें स्वीकार नहीं किया। अन्ततः राजा के आत्मघात के लिए प्रस्तुत होने पर उर्वशी केवल इतना कहती है—राजन्! आत्मघात से कुछ लाभ नहीं होगा। स्त्रियों के साथ चिरन्तन मैत्री नहीं हो सकती, क्योंकि उनका हृदय सालावृकों (भेड़ियों) का सा होता है—

**पुरुरवो मा मृघा मा प्र पन्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उक्षन् ।
न वैस्त्रैणार्नि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदगान्येता ।।**

10/95/15

पुरुरवा एवं उर्वशी का पुनर्मिलन ऋग्वेद एवं शतपथ-ब्राह्मण में स्पष्ट उल्लिखित नहीं है। हाँ, यह अवश्य कहा जाता है कि पुरुरवा गन्धर्व हो जाता है और अपनी प्रेयसी के साथ पुनः संभोग सुख को प्राप्त करता है। पुरुरवा उर्वशी की यह प्रेम-कथा ऋग्वेद एवं शतपथ ब्राह्मण के अतिरिक्त कृष्ण यजुर्वेदीय काठक संहिता, बौद्धायन श्रौतसूत्र, ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी टीका हरिवंश पुराण, विष्णु पुराण, कथा सरित्सागर तथा विक्रमोर्वशीयम् में भी प्राप्त होती है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल का दसवां सूक्त संवाद रूप में आख्यानकाल का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें यम-यमी (भाई-बहिन) का कथनोपकथन निहित है। सृष्टि के आदि युग से मानव जाति के विकास की कथा का सूत्र इसमें उपलब्ध प्रतीत होता है। मानव जाति को बनाये रखने के लिए यमी अपने भाई को संभोग के लिए आमंत्रित करती है; किन्तु यम सहज भ्रातृ स्नेहवश इस सगोत्र सम्बन्ध को अवैध बताते हुए निराकरण करता है; किन्तु यमी की परिवर्धमान कामेच्छा उसको कटु वाक्यों पर उतार लाती है। वह यम से खीझकर उसे पुरुषत्वहीन कहती है। मानवीय भावनाओं से रहित बतलाते हुए निष्ठुर तक कहती है; किन्तु यम बहुत ही सहज शब्दों में यह कहकर इस प्रसंग को समाप्त कर देता है कि तुम उस व्यक्ति का जाकर आलिंगन करो, जो भावोत्तेजित हो। यह स्पष्ट नहीं है कि यम-यमी की इस कथा का अन्त क्या है, अन्यत्र कहीं भी इस कथा का उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए यह भी विदित नहीं होता कि मानव जाति के रक्षार्थ यमी ने क्या किया। लेकिन इस नाटकीय रमणीय सूक्त से इतना तो अवश्य ही आभास मिलता है कि इस समय तक आर्य जाति एवं सभ्यता का नैतिक स्तर समुचित था।

ऋग्वेद का सूर्या सूक्त 10/815 संवाद सूक्तों में एक सुन्दरतम निदर्शन है। इस सूक्त में सूर्य के विवाह का निर्देश है। सूर्या सूर्य पुत्री है, जिसे इस सूक्त में उषा भी कहा गया है। सूर्या का विवाह सोम के साथ होता है। प्रस्तुत सूक्त की 47 ऋचाओं में अश्विनी कुमारों तथा सोम-सूर्या को लक्ष्य कर ही भाव व्यक्त किये गए हैं। इस सूक्त में विवाह पद्धति वर्णित है, जो कि आगे चलकर सूत्र ग्रंथों में पल्लवित हुई है। विवाहित दम्पती के जीवन की भी कुछ छाया इसमें देखने को मिल जाती है। जहां इस सूक्त में विवाह की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन है, वहीं इनमें यम-यमी सूक्त के समान सरलता, सरसता, भावप्रवणता जैसे काव्यात्मक तत्त्वों का भी समावेश हुआ है। इस संवाद में ही कुछ ऋचाएँ जादू से भी संबन्धित हैं। कुछ मंत्र गर्भरक्षा, बीमारी, दुस्वप्न, अपशकुन, जादू, हानिप्रद कीटाणु, शत्रु एवं पशुधन विषयक भी हैं।

पांचवे मण्डल में श्यायाश्व एवं राजा रथवीति की कन्या का प्रणय-चित्र मिलता है जहां राजा राजपुत्री से प्रेम करने लगता है, किन्तु रानी किसी शुभ लक्षण समन्वित आदर्श व्यक्ति को कन्या देना चाहती है। इसलिए राजा शास्त्रों का अध्ययन कर विद्वान् कवि के रूप में उसे प्राप्त करता है। काव्यकला की दृष्टि से तो यह सूक्त सुन्दर बना ही है; किन्तु उस काल में विद्वान् का आदर होता था, यह भी इस आख्यान को पढ़ने से ज्ञात होता है।

ऋग्वेद के सातवें मण्डल के 130वें सूक्त में मण्डूक गीत है। इस सूक्त में मेंढकों की तुलना ब्राह्मणों से की गई है। ग्रीष्म ऋतु में शान्ति व्रतधारी ब्राह्मण के समान ही मेंढक शान्त एवं अज्ञातवास में रहते हैं; किन्तु वर्षा के आगमन पर परस्पर एक-दूसरे का अभिनन्दन करते हैं। जिस प्रकार वेद का पढ़ने वाला

शिष्य अपने गुरु के शब्दों की पुनरावृत्ति करता है, उसी प्रकार एक मेंढक दूसरे मेंढक के शब्दों की पुनरावृत्ति करता है। इस सूक्त की समस्त कल्पनाएँ मनोविनोदपूर्ण एवं सरस हैं। पाश्चात्य विद्वान् इन मन्त्रों को याज्ञिक गीतों के अनुकरण पर गीतों के रूप में द्वेषमूलक ब्रह्म के प्रति व्यंग्य मानते हैं; किन्तु भारतीय विद्वान् इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं। फिर भी यह सूक्त सुन्दर है तथा हास्य रस की उद्भावना भी करता है। इसमें ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए मन्त्र भी हैं।

दसवें मण्डल के 34वें सूक्त में धर्मविहीन कविता संगृहीत है, जिसे हम अक्षसूक्त के नाम से अभिहित करते हैं। यह एक जुआरी का करुण स्वगत कथन है। इस सूक्त को पढ़कर पता चलता है कि द्यूत-क्रीड़ा गृहशान्ति को कैसे सहज ही समाप्त कर देती है। इस सूक्त में एक जुआरी जुआ न खेलने की प्रतिज्ञा कर लेता है; किन्तु पासों की झंकार उसे पुनः नित्य की भांति खेलने के स्थान पर बुला लेती है, पतन की सीमा यहां तक दिखाई गई है कि वह अपनी पत्नी को हार जाता है। फलस्वरूप सास घृणा करती है। साहूकार ऋण नहीं देता; किन्तु जुआरी अपनी आदत से लाचार है।

अन्य अनेक आख्यान सूक्त हैं, बहुत से वैदिक आख्यान अधूरे भी हैं। तथापि उपयोगिता की दृष्टि से तात्कालिक समाज के स्पष्ट चित्र-दर्शन के लिए ये आख्यान अत्यधिक उपादेय हैं।

ऋग्वैदिक आख्यान-साहित्य अथवा संवाद-सूक्तों का प्रायशः पाश्चात्य विद्वानों ने ऐतिहासिक मूल्यांकन ही प्रस्तुत किया है; किन्तु मीमांसक तथा स्वामीदयानन्द ने इनका दूसरी दृष्टि से अध्ययन किया है। मीमांसकों का कथन यह है कि वह आख्यान साहित्य प्ररोचना मात्र है। आख्यान के प्रदर्शनार्थ इस साहित्य का सृजन नहीं हुआ है, अपितु परवर्ती काल में इन मन्त्रों को ऐतिहासिक गाथाओं के साथ सम्बद्ध कर दिया है। शबर स्वामी इस आख्यान साहित्य को मौलिक स्वीकार नहीं करते हैं तथा इसकी वास्तविकता पर सन्देह करते हैं।

स्वामी दयानन्द का कथन है कि आख्यानों में आये हुए नाम इन्हीं अर्थों के बोधक नहीं हैं, अपितु उनके अन्य अर्थ हैं। जैसे कश्यप शब्द का अर्थ निरुक्ति की दृष्टि से प्राण है। 'कश्यपो वैकूर्म', 'कूर्मी वै प्राणः'। इसी प्रकार जमदग्नि शब्द का अर्थ है—नेत्र—'चक्षु वै जमदग्निः।' वसिष्ठ का प्राण, भारद्वाज का मन, विश्वामित्र का अर्थ है कान। इसी प्रकार स्वामीजी यौगिक आध्यात्म-परक अर्थ के आधार पर ऐतिहासिकता का विरोध करते हैं, किन्तु आधिभौतिक, आधिदैविक अर्थ करने पर ऐतिहासिकता की भी प्रतीति होती है, जो कि स्वीकरणीय है।

वैदिक साहित्य के ये संवाद-सूक्त साहित्यिक एवं सामाजिक अध्ययन की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनके महत्त्व के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते हैं।

वैदिक देववाद

शक्ति और शक्तिमान में लीलावश समस्त ब्रह्माण्ड गतिमान है। इन्हीं शक्ति और शक्तिमान को माया और मायावी, पुरुष और प्रकृति, शिव और शक्ति आदि भी प्रायः कहा जाता है। वस्तुतः अपनी शक्ति के बिना शिव शव है और शिव के बिना शक्ति स्वतः निराधार है। इस प्रकार शक्ति तत्त्व ही परा देवता है—क्रमशः जैसे-जैसे जगत् का विकास होता है, वैसे ही वैसे परमशक्ति नाना रूपों को धारण करती है। इस ब्रह्माण्ड में आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि जितनी भी शक्तियां हैं, वे सब इसी मूलशक्ति के भेदमात्र हैं।

जड़-पदार्थों के अनेक अधिष्ठाता कोई चेतन (देवता) माने गये हैं; परन्तु अन्ततः सभी एक हैं, एक ही अग्नि की अनेक स्फुलिंग की भांति एक ही परमात्मा की सब शक्तियां हैं। 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ' महाशक्ति की जो अनेक शक्तियां विविध रूपों में विद्यमान हैं, उनके अनेक नाम हैं, उनकी अनेक नामों से संस्तुति भी की गई है किन्तु अन्ततः वह एक ही हैं।

देव शब्द अनेक अर्थों को व्यक्त करता है 'देव' वह है जो मनुष्य को देता है, वह समस्त विश्व को देता है। विद्वान् पुरुष भी देव है क्योंकि वह विद्याओं का दान करता है 'विद्वांसो हि देवाः' इसी प्रकार सूर्य, चन्द्रमा और आकाश भी देव हैं और अतिथि भी देव हैं—मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथि देवो भव। ये उपनिषद् वचन इसके प्रमाण हैं।

वैदिक साहित्य में प्राप्त देव विषयक विषय-वस्तु का प्रामाणिक विवेचन हम निरुक्त नामक ग्रन्थ में प्राप्त करते हैं। निरुक्तकार यास्क का कहना है—

'देवो दानाद्वा द्योतनाद्वा दीपनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा' (7/15)

वस्तुतः देवता अपने भक्तों को प्रकाश तथा दान देने के साथ समस्त कामनाओं के भी पूरक होते हैं। देवों की सत्ता तीन प्रकार की निरुक्त में निर्दिष्ट है—एक पृथ्वी स्थानीय अग्नि, सोम आदि दूसरे अन्तरिक्ष स्थानीय वायु, इन्द्र, पर्जन्यादि तीसरे द्युस्थानीय सूर्य सविता, पूषा आदि।

जिस सूक्त में जिस देवता का नाम रहता है, उसका वही प्रतिपादनीय और स्तवनीय है। यदि कहीं जड़ पदार्थों को भी देवतावत माना गया है तो वे जड़ पदार्थ भी उस तत्त्व के अधिष्ठाता हैं, क्योंकि आर्य लोग प्रत्येक जड़ पदार्थ का एक अधिष्ठाता देवता मानते थे। इसीलिए वे जड़ की स्तुति भी चेतन की तरह करते थे। मीमांसाकार ने भी उपर्युक्त विचारधारा का समर्थन करते हुए लिखा है कि जिस मन्त्र में जिस देवता का वर्णन है, उस मन्त्र में उसी देवता के समान ही दिव्य शक्ति समाहित रहती है इसलिए देवत्व शक्ति मन्त्र में ही है।

प्राकृतिक आधार रखने वाले प्रधान वैदिक देवताओं की संख्या तैंतीस है। ऋग्वेद में एक मन्त्र में ग्यारह-ग्यारह देवों के तीन समुदायों का उल्लेख मिलता है—जो देवता स्वर्ग में हैं वे ग्यारह हैं, पृथिवी स्थानीय देवता भी ग्यारह

हैं; अन्तरिक्ष स्थानीय देवता भी ग्यारह ही हैं, वे सभी अपनी महिमा से यज्ञ की सेवा करते हैं—

ये देवासो दिव्यैकादशस्थ पृथिव्यामध्यैकादशस्थ ।
अप्सुक्षितौमहिमनैकादशस्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ॥

—ऋ. 1/139/11

अन्य कई मन्त्रों में भी तैंतीस देव का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में भी आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य; आकाश और पृथ्वी इस प्रकार तैंतीस देवताओं का उल्लेख है।

वैदिक देवताओं की मौलिक आध्यात्मिक एकता का वर्णन वेदों के मन्त्रों में है। ऋग्वेद एवं यजुर्वेद के इन मन्त्रों में स्पष्ट ही लिखा है कि इन्द्रादि देवों के नामों में ही अन्तर है किन्तु आत्यन्तिक सत्ता एक ही है—

इन्द्रं मित्रंवरुणग्निमाहुरथोदिव्यः स सुपर्णां गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु ॥ ऋ. 1/164/43

विद्वान् मनीषियों की दृष्टि में इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, ब्रह्मा आप, प्रजापति आदि नाम एक ही मौलिक सत्ता या अध्यात्मतत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। निरुक्तकार ने तो केवल एक महादेव को स्वीकार करते हुए लिखा है कि तत्तत्कर्मानुसार विभिन्न नामों से पुकारे जाने पर भी देव एक है—तासां महाभाग्यात् एकैकस्यापि बहूनि नामधेयानि सन्ति एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति।' अर्थात् एक ही आत्मा (परमात्मा) के सब देवता विभिन्न अंश हैं। इसी अन्तिम तत्त्व परमात्मा को याज्ञिकों और ब्राह्मण ग्रन्थों ने प्रजापति कहा है। सभी देवता इन्हीं प्रजापति के विशिष्ट अंग माने गए हैं। ऋग्वेद अनेक मन्त्रों में यह धारणा पूर्ण रूप से व्यक्त हुई है कि देवों की शक्ति मूलतः एक ही है, व्यवहारतः वह अनेक नामों से पुकारा जाता है।

ऋग्वेद-कालीन देवतावाद अथवा ऋग्वेद-कालीन धर्म का विश्लेषण करते हुए हम निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि ऋग्वेद के बड़े-बड़े देवता प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के ही प्रतीक हैं। उनका ऐश्वर्य, तेज, शक्ति एवं बुद्धि आदि समान रूप से उपन्यस्त हैं, वैदिक देवताओं को एक-दूसरे से अलग करने वाली विशेषताएँ इनी-गिनी हैं, बहुसंख्यक गुण और शक्तियां तो सभी देवताओं में लगभग समान हैं। इस बात का एक कारण तो यह है कि प्रकृति के वे विभाग या इकाइयाँ जिनके ये देवता प्रतिरूप हैं, अनेक बातों में समान हैं, जबकि अभी ये देवता मानव के रूप में पूरी तरह विकसित नहीं हो पाये हैं। इसलिए विद्युत् के देवता का (विद्युत् के रूप में), अग्नि के देवता का और तूफानों के देवता का वर्णन समान भाषा में संभव है; क्योंकि वैदिक कवि दृष्टि में इन सबका प्रमुख व्यापार पानी बरसाना। एक बात और भी कह दी जाए कि इन सभी देवताओं का यथार्थ स्रोत एक ही है किन्तु उन देवताओं में उस-उस संज्ञा के कारण

विभेद आ जाता है, जो कि किसी ऐसे गुण-विशेष का बोध कराती है जिसने शनैः-शनैः अपना स्वतन्त्र रूप बना लिया है।

आर्यों का विश्वास था कि प्राकृतिक देवी-देवताओं की उपासना के माध्यम से उस अनन्त शक्ति की उपासना होती है और वह अनन्त शक्ति की कामनाओं की पूर्ति करती है। वेद में पौराणिकता के मौलिक तत्त्वों का उदय यहीं से होता है। वैदिक साहित्य के अध्ययन के उपरान्त हम कह सकते हैं कि वैदिक देवताओं का प्राकृतिक आधार लगभग स्पष्ट है; उदाहरण के लिए अग्नि, वायु, आपः, आदित्य, उषस् आदि वैदिक देवताओं के वर्णनों से यह स्पष्ट है कि यहाँ भौतिक अग्नि आदि को ही ऊपर उठाकर देवत्व के आसन पर आसीन किया गया है। यद्यपि अश्विन वरुण आदि देवों के संबंध में कुछ सन्देह नहीं रहता कि इनके भी मूल में कोई भौतिक आधार अवश्य रहा होगा। एक बात और भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि देवों के भौतिक आधार के रहते हुए भी ऋषियों ने प्राकृतिक शक्तियों की स्तुति या प्रशंसा की है, उनके स्थूल रूप की नहीं। उनकी शासिका अधिष्ठात्री चेतन शक्ति है, यह चेतन शक्ति परमात्मा से भिन्न नहीं है अपितु परमात्मा रूप ही है।

वैदिक साहित्य में देवताओं की कई रूपों में स्तुति की जाती है। देवता युग्मरूप से आहूत होते हैं; जैसे—मित्रावरुण, द्यावापृथिवी, कुछ समुदाय रूप में भी आते हैं; जैसे—मरुद्गण, आदित्यगण, वसुगण, विश्वेदेवा, ऋभुगण आदि। ऋग्वेद में कहीं-कहीं एकेश्वरवाद Pantheism के भी दर्शन हो जाते हैं। ऋग्वेद में प्रत्येक देवता को ही सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में स्तवन किया गया है। वैदिक देवताओं की एक विशेषता यह भी है कि उनकी शारीरिक रचना मनुष्यों की सी है। उनके भी सिर, आंख, भुजा, हाथ, पैर आदि होते हैं।

इस प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि वैदिक देव यशसम्पन्न मानवीय प्राणी हैं जो मानवीय उद्देश्यों एवं कामनाओं से अनुप्राणित हैं और जो मानव की भांति उत्पन्न होते हैं पर मरते कभी नहीं।

ऋग्वैदिक आर्य प्रकृति के उपासक थे। कालान्तर में यही प्राकृतिक शक्तियां तद्देवता के नाम से अभिहित की जाने लगीं। वैदिक देवताओं में से जिनका पहले विशेषण के रूप में प्रयोग होता था, शनैः-शनैः वे भी देवत्व पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। सविता जीवनदायक, विवस्वान् देदीप्यमान आदि शब्द पहले विशेषण थे; कालान्तर में सूर्य के पर्यायवाची नाम और अन्ततः पृथक् देवतावाचक हो गए। देवों की उपासना दीर्घायुष्य को प्रदान करती है। देवताओं की एक विशेषता उनकी चारित्रिक दृढ़ता भी है। वे ईमानदार, ऋतु के रक्षक तथा छल-कपट के विरोधी हैं।

वैदिक देवता

सायणाचार्य वेद-मन्त्रों को देवताओं की प्राकृतिक शक्तियों के रूप में व्याख्या करते हैं। वे प्राचीनतम धर्म के प्रतीक हैं। उनका धर्म प्रकृति-पूजा है। उनका लक्ष्य प्रकृति-पूजा के माध्यम से यज्ञ की ओर उन्मुख रहा है।

वैदिक देववाद के सम्बन्ध में 'श्री अरविन्द के विचार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। मन्त्रों के देवी-देवता मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के चिह्न हैं। सूर्य बुद्धि का चिह्न है, अग्नि संकल्प का चिह्न है और सोम अनुभूति का चिह्न है।

वैदिक देवों के स्वरूप, महत्त्व एवं विषय विकास की भी अपनी एक कहानी है। यहां के देवों का महत्त्व एवं स्वरूप सदैव परिवर्तनशील रहा है। समष्टि दृष्टि से यदि विकास पर विचार करें तो हम कह सकते हैं कि वैदिक देवतावाद बहुदेववाद की ओर उन्मुख था। कालांतर में एकदेववाद और सर्वेश्वरवाद के रूप में उसकी चरम परिणति होती है। ऋग्वेद का पुरुषसूक्त सर्वेश्वरवाद का पूर्ण परिपक्व स्वरूप प्रस्तुत करता है। वहां पर स्पष्ट रूप में लिखा है कि "उस पुरुष के सहस्र सिर हैं, सहस्र नेत्र तथा सहस्र पाद हैं अर्थात् उनके सिर, नेत्र तथा पैरों की संख्या की इयत्ता नहीं है। वह इस विश्व के परिमाण से अधिक है। वह विश्व को चारों ओर से घेर कर दस अंगुल अधिक बढ़कर है 'अत्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्', में दशांगुल केवल परिमाणधिक्य का उपलक्षण मात्र है। विश्व के समस्त मरणशील प्राणी उनके केवल एक चतुर्थ अंश मात्र हैं। उसका अमृत त्रिपाद आकाश में है...वह अमरणधर्मा प्राणियों का शासक है तथा उन मरणधर्माओं का भी तो अन्न-भोजन करने से बढ़ते हैं। पुरुष के विषय में विलक्षण तथ्य यह है—'पुरुष एवेदं सर्वं यद भूतं यच्च भाव्यम्'। अकेला पुरुष ही यह समस्त विश्व है जो प्राचीनकाल में उत्पन्न हुआ।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में अनेक सूक्तों के पर्यालोचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इस प्रकार मुख्य देव या देवाधिदेव की कल्पना दृढ़ मूल हो गई थी, यही मुख्य देव कहीं प्रधानदेव, कहीं हिरण्यगर्भ 'हिरण्यगर्भः समवर्त्ताग्रेभूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' तो कहीं पुरुष—'पुरुष एवेदं सर्वं यत्भूतं यच्चभाव्यम्' कहीं प्रजापति के नाम से विख्यात हुआ था और परवर्तीकाल में यही सर्वं खलु इदं ब्रह्म की भावना का प्रेरक तत्त्व बना है।

क्रमिक विकास की दृष्टि से सर्वप्रथम स्थान 'द्यौ' देवता का है, जो कि मानवीकृत द्युलोक के देवताओं में प्राचीनतम है। इसका अधिकांशतः उल्लेख पृथ्वी के साथ युग्म रूपों में मिलता है; जैसे—द्यावा-पृथ्वी। ये दोनों विश्व के माता-पिता हैं। द्यौ की तुलना मोती मण्डित कृष्ण-वर्ण के अश्व से की गई जो कि स्पष्टतः तारांकित नभोमण्डल का प्रतीक है। द्यौ शब्द का प्रयोग आकाश के लिए हुआ है, इस अर्थ में यह शब्द ऋग्वेद में पांच सौ बार प्रयुक्त हुआ है। पचास बार इसका प्रयोग दिन में अर्थ में हुआ है। कतिपय मन्त्रों में 'द्यौ' को वृषभ कहा गया है। ऐसा वृषभ जो कि रंभाता है। इन स्थलों पर देवता को पशु

के रूप में देखा गया है, क्योंकि द्यौ एक गरजने वाला पशु है। द्यौ के पास वज्र है; द्यौ बादलों के बीच मुस्कराता है, जो कि ज्योतिर्मय आकाश की ओर संकेत करता है। वस्तुतः द्यौ की कल्पना में पशु मानवीकरण और मानव आकार रचना के बन्धन नहीं के बराबर हैं; किन्तु पितृत्व का भाव प्रबल रूप से विद्यमान है। द्यौ शब्द की निष्पत्ति दिव् धातु से हुई है, जिसका अर्थ है चमकने वाला जो कि 'देव' शब्द का बोधक है।

वरुण—वरुण देवताओं में महान् है किन्तु सूक्तों की संख्या के आधार पर यदि उनका मूल्यांकन किया जाए तो वे नीचे के स्तर पर आ जाते हैं। वरुण का मानवीय शारीरिक पक्ष उतना स्पष्ट नहीं है जितना कि नैतिक पक्ष। वरुण के वर्णन में उनका महत्त्व उनके कार्य से आंका जाता है। वरुण मानवीय रूप में मुख, नेत्र, हाथ और पैर से युक्त हैं। कवि उनके मुख को अग्नि जैसा देखता है। मित्र और वरुण का नेत्र सूर्यदेव हैं। वरुण का स्वर्णिम आवास स्वर्ग है। वरुण अपने भवन में बैठकर संसार के समस्त कार्य-कलापों का निरीक्षण करते हैं। उनका महत्त्व महान् और उन्नततम है। सहस्र स्तम्भों पर वह आधृत है। उनके घर में सहस्रों द्वार हैं। वरुण एक नियामक देवता के रूप में मान्य हैं। वरुण के सम्बोधन में उक्त स्तुतियां भावपूर्ण कवित्वमय हैं। वरुण अपराधियों को दण्ड भी देते हैं। वरुण के विषय में यह भी कहा जाता है कि वे ऋतुओं का नियमन करते हैं। वे बारहमासों को जानते हैं—**वेद मासो धृतव्रतः द्वादश प्रजावतः**। ऋग्वेद में वरुण को जलों का शास्ता बताया गया है। उन्होंने सरिताओं को प्रवाहित किया। ये सरिताएँ वरुण के ऋतु का अनुसरण करती हुई निरन्तर प्रवाहित होती रहती हैं। वरुण की माया के बल से सरिताएँ तीव्र वेग से समुद्र में गिरकर भी उसे भर नहीं पाती हैं। वरुण और मित्र सरिताओं के पति हैं। नैतिक शासक होने के नाते वरुण सभी देवताओं से ऊँचे हैं। पापकर्म से और व्रतों के उल्लंघन होने पर वरुण क्रुद्ध होते हैं और ऐसा करने वालों को कठोर दण्ड भी देते हैं। जिन पाशों के द्वारा वरुण पापियों को बांधते हैं, वे पाश सात और तीन कड़ियों के हैं। वे असत्यवादियों को बांधते हैं और सत्यवादियों से दूर रहते हैं। वरुण के पाश औषधियां भी हैं, जिनसे मृत्यु को वे जीतते हैं। वरुण अपने उपासकों के प्रति मित्रता रखते हैं। वरुण शब्द वृ धातु से निष्पन्न है। सायण वृ धातु से इसकी निष्पत्ति मानते हुए आवृत करने वाला अर्थ करते हैं अथवा दुष्टों को अपने बन्धन में बांधने वाला।

मित्र—मित्र का वरुण के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋग्वेद में मित्र देव सर्वत्र वरुण के साथ याद किये जाते हैं। वे वरुण के समान ही बलवान और 'अदब्ध' कहे गये हैं। वरुण की एक विशेषता मित्र की भांति मनुष्यों को एकत्र करने में है। मित्र द्युलोक पृथ्वी को धारण करते हैं। पंचजन उनकी आज्ञा का पालन करते हैं। वे सभी देवताओं को स्थिर रखते हैं। मित्र सूर्यदेव से सम्बद्ध मिलते हैं, मित्र शब्द का अर्थ ऋग्वेद में साथी किया गया है।

सूर्य—ऋग्वेद में सूर्य देव के लिए चौदह सूक्त हैं और देवताओं में सूर्य सबसे अधिक स्थूल है और भौतिक सूर्य के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। आकाश में सूर्य का ज्वलन्त प्रकाश मानो अमूर्त अग्नि का मुख है। सूर्य के नेत्र का उल्लेख अनेकशः हुआ है। सूर्यदेव दूरद्रष्टा हैं, सर्वद्रष्टा हैं और निखिल धरा के सर्वेक्षक हैं। वे सभी प्राणियों के भले-बुरे कर्मों को देखते हैं। सूर्यदेव मानव मात्र के लिए उद्बोधन के कारण हैं, वे चर-अचर की आत्मा हैं, उनके रथ को घोड़े खींचते हैं। उनके रथ में सात घोड़े या हरित नाम की सात घोड़ियां जोती जाती हैं। सूर्य के रथ का निर्माण वरुण ने किया। सूर्य को माता के नाम पर आदित्य या आदितेय भी कहा गया है। सूर्य के पिता द्यौ हैं। कहीं-कहीं सूर्य को आकाश में उड़ने वाला पक्षी भी कहा गया है। सूर्य आकाश के रत्न हैं, सूर्य एक ज्योतिष्मान् आयुध भी हैं। वे मित्र और वरुण द्वारा आकाश में छोड़े गये ज्योतिष्मान् रथ हैं, सूर्य एक चक्र है। सूर्यदेव अन्धकार के विध्वंसक हैं, सूर्य दिनों को भी नापते हैं। वे बीमारी और दुःस्वप्नों का नाश करते हैं; सभी प्राणी सूर्य पर अवलम्बित हैं।

सविता—सविता देव का नाम लगभग एक सौ सत्तर बार ऋग्वेद में आया है। सविता देव आपादमस्तक स्वर्णिम देव हैं, वे अपने हाथों में स्वर्णिम अस्त्र लेकर सभी प्राणियों की सहायता करते हैं। वे हिरण्याक्ष, हिरण्यहस्त, हिरण्यजिह्व हैं, वे हिरण्यबाहु पृथुपाणि भी हैं। वे मधुजिह्व, सुजिह्व भी हैं, एक स्थान पर उन्हें अयोहनु भी कहा गया है। वे पीतवर्ण की गाती बांधते हैं, उनके पास स्वर्णिम रथ है। इनके रथ को दो चमकीले घोड़े खींचते हैं। ओज और विभूति उनका विशेष गुण है। सविता देव देवताओं को अमरत्व और मनुष्यों को दीर्घायु प्रदान करते हैं। मृतात्माओं को स्वर्ग पहुंचाना भी उन्हीं का काम है। सविता देव अन्य देवों के नेता हैं। इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमन्, रुद्र आदि शक्ति सम्पन्न देव भी उनके संकल्प व्रत, गति और प्रिय स्वराज्य का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। उनका यशोगान वसु, अदिति, वरुण, मित्र आदि करते हैं। जल और वायु उनके आज्ञानुसार चलते हैं, वे जलों के नेता हैं। वैदिक कवियों की दृष्टि में सविता देव अधिक स्थूल देवता हैं। सविता मूलतः भारतीय देव हैं।

पूषन्—पूषन् को लक्ष्य कर ऋग्वेद में आठ सूक्त हैं। पूषन् का व्यक्तित्व अस्पष्ट और उनकी मानवीय आकार सम्बन्धी विशेषताएँ अल्प हैं, पूषन् के पैर और हाथों का उल्लेख मिलता है। रुद्र की भांति उनके घुंघराले बाल भी हैं और दाढ़ी भी। उनके हाथ में सुनहरा बर्छा है और वे नौकदार अंकुश अपने पास रखते हैं; उनके रथ के चक्रकोश और आसन का उल्लेख मिलता है। उन्हें सर्वोत्तम सारथी भी माना गया है। अजाश्व उनके रथ को खींचते हैं। उनका भोजन दलिया व सत्तू है। पूषन् अपनी माता व ऊषा का प्रेमी है; उसे सूर्य की पुत्री सूर्या का पति कहा गया है। पूषन् का निवास-स्थान द्युलोक में है। पूषन् प्राणियों के साक्षी हैं। द्युलोक व पृथ्वीलोक में गति करते हैं। इन्हें मार्ग या राजपथों का देवता कहा गया है। पूषन् पशु-पालक व बिना हानि पहुंचाये पशुओं

को घर पहुंचाने वाले देव हैं; उपासक इसीलिये उनसे बार-बार प्रार्थना करता है। वे शक्तिशाली, ओजस्वी, तेजस्वी, सबल और निर्बाध हैं। वे वीरों के शासक और अजेय संरक्षक हैं, विश्व के रक्षक हैं, बुद्धिमान व उदार हैं। पूषन् शब्द का अर्थ पोषक है।

विष्णु—विष्णु ऋग्वेद में संख्या की दृष्टि से चतुर्थ स्थान के अधिकारी हैं और महत्त्व की दृष्टि से बहुत आगे बढ़े हैं। विष्णु की मानवीकृत विशेषताएँ उनके क्रमण, वृहच्छरीर एवं युवाकुमारत्व आदि विशेषणों से प्रसिद्ध हैं; किन्तु उनकी चारित्रिक विशेषता उनके तीन पद हैं, वे उरुगाय और उरुक्रम भी हैं। विष्णु अपने तीन पदों द्वारा पार्थिव लोकों की परिक्रमा करते हैं। द्युलोक विष्णु का प्रिय आवास है, जहां भूरिशृंगा गायें विचरण करती हैं। विष्णु के इन्हीं तीन पदों में समस्त भुवन निवास करता है, ये पद मधु से सम्भूत हैं। विष्णु त्रिषधस्थ भी हैं। विष्णु के तीन पद सूर्यपथ के बोधक हैं। विष्णु विष् धातु से निष्पन्न गतिमान अर्थ का बोधक शब्द है। विष्णु की इसीलिये एक विशेषता गति है। इसीलिये उरुगाय, उरुक्रम विशेषणों का प्रयोग इनके लिए हुआ है। विष्णु के चरित्र की दूसरी विशेषता इन्द्र की मैत्री है। विष्णु समस्त युद्धों में इन्द्र के सहयोगी हैं, अतः उन्हें उपेन्द्र भी कहा गया है। वे ही पृथ्वी, द्युलोक एवं अशेष भुवनों को धारण किए हुए हैं। परवर्ती साहित्य में अवतारवाद की धारणा का विकास इन्हीं विष्णु से हुआ है।

अश्विनौ—संख्या की दृष्टि से इन्द्र, अग्नि, सोम के उपरान्त युगल देवता अश्विनौ का स्थान है। ये देवों के वैद्य हैं, जो कि अन्धे को आंखें तथा लंगड़े को चलने की शक्ति प्रदान करते हैं। अश्विन् युवा हैं, प्रकाशमान हैं, वे सुन्दर हैं, हिरण्य ज्योति वाले हैं और मधुवर्ण हैं। उनके अनेक रूप हैं, वे सुन्दर हैं, कमलों की माला पहनते हैं। वे शीघ्रगामी हैं, मनोजवा हैं, बाज जैसे हैं, शक्तिमान हैं।

मरुत्—ऋग्वेद में मरुत् को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, वे रुद्र के पुत्र हैं अतः उन्हें बहुधा रुद्र या रुद्रिया कहा गया है। इन्हें पृश्नि का पुत्र भी बताया गया है। इसलिये इनके लिए अनेक बार 'पृश्निमातर' यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है। वैसे इनका चित्रण एक योद्धारूप में हुआ है। रुद्र अपने हाथ में विद्युत् लेकर स्वर्णिम रथारूढ़ होकर विचरते हैं। यह रथ स्वर्णिम पहियों से युक्त है, इसमें शस्त्र रखे हैं। इनके अश्व चितकबरे हैं, एक स्थल पर तो उल्लेख है कि इन्होंने हवाओं को अश्वों के स्थान पर जोत दिया है। वे सिंह के समान प्रचण्ड एवं भयंकर हैं। ये पर्वत एवं जंगलों को तहस-नहस कर डालते हैं। इनका एक काम जल वर्षा करना भी है। मरुत् व्योम के समान उरु अर्थात् व्यापक हैं, वे सूर्य के समान द्युलोक एवं पृथ्वी लोक को अतिक्रान्त किए हुए हैं। इनकी गरिमा अपरिमेय है। इनकी शक्ति का पार किसी ने नहीं पाया है। मरुत् युवा है। मरुत् के गर्जन का भी अनेकशः उल्लेख मिलता है।

पर्जन्य—ऋग्वैदिक देवताओं में पर्जन्य का स्थान गौण है। केवल तीन सूक्तों में इनका स्तवन हुआ है। पर्जन्य वर्षा के देवता हैं जो कि पृथ्वी को उर्वरा बनाते हैं। धारासम्पात वर्षा के समय वह गर्जन-तर्जन भी करता है। गरजते हुए पर्जन्य वनस्पतियों, दानवों और पापियों को मार गिराते हैं। उनके दारुण अस्त्र से समग्र संसार भयभीत हैं। वे वात और विद्युत् को धारण करते हैं। वृष्टि के देव होने के कारण पर्जन्य-स्वभावतः वनस्पति के उत्पादक और पोषक हैं। ऋग्वेद में पर्जन्य शब्द मेघ का विशेषण है और साथ ही मानवीकृत देव भी है।

इन्द्र—इन्द्र वैदिक भारतीयों के प्रियतम राष्ट्रीय देवता हैं। उनकी महत्ता का ज्ञान इसी से होता है कि ऋग्वेद में लगभग 250 सूक्तों में उनका गुणगान हुआ है। इन्द्र प्रधानतः देवताओं के देवता हैं, गौणतः वे युद्ध के देवता हैं। वे वायु में व्यापत हैं। इन्द्र की शारीरिक विशेषता का भी उल्लेख मिलता है। उनके शरीर, सिर, भुजाएँ और हाथ हैं। वे सोमपान में दक्ष हैं। वे हिरण्यबाहु आयसहस्त हैं। वज्रबाहु भी हैं। उनकी भुजाएँ आजानुलम्बी तथा शक्तिशाली हैं। वज्र उनका शस्त्र है। वह विद्युत् ही है। कभी-कभी इन्द्र धनुष-बाण भी हाथ में लेकर आते हैं। शत्रु को पराजित करने में दक्ष हैं, उनका रथ स्वर्णिम है। उनके रथ में सूर्य के या वायु के घोड़े जोते जाते हैं। इन्द्र की सोमलिप्सा सर्वप्रसिद्ध है। सोम इन्द्र का प्रियतम पेय है। इन्द्र और वृत्र का युद्ध इन्द्र की शक्ति का प्रतीक है। यह युद्धप्रिय देवता अपने अनेकानेक व्यक्तिगत गुणों के आधार पर अन्य देवों की अपेक्षा देवराज बनने का पूर्णतः अधिकारी है। इन्द्र के विशाल आकार का अनेकशः उल्लेख मिलता है, यदि पृथ्वी दस गुनी हो जाती है तो सम्भवतः वह इन्द्र के बराबर हो पाती। उत्पन्न होने वालों में ऐसा कोई नहीं है जो उनकी समता कर सके। कोई भी व्यक्ति पार्थिव या दिव्य न तो ऐसा उत्पन्न हुआ है और न उत्पन्न होगा; जो उनकी बराबरी कर सके। कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि इन्द्र आर्यों का राष्ट्रीय देव है। उसमें समस्त विशेषताएँ निहित हैं, वैदिक ऋषि इन्द्र में परमात्म तत्त्व के दर्शन करते हैं। साथ ही आर्य लोग इन्द्र को देवश्रेष्ठ और महान् शूरवीर मानते हैं। अध्यात्म दृष्टि से इन्द्र परमात्मा थे। अधिदैव दृष्टि से देवश्रेष्ठ और अधिभूत दृष्टि से एक महान् योद्धा थे। परवर्ती ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों में इन्द्र को अद्वितीय आत्मा, जीवात्मा, प्राण आदि कहा गया है। वैदिक साहित्य का इन्द्र तत्त्व एक विशिष्ट प्रतिपाद्य तत्त्व है।

रुद्र—यह उत्तरकालीन रुद्र से सर्वथा भिन्न देवता है। ऋग्वेद में इनका स्थान गौण है। इनका नामोल्लेख विष्णु की अपेक्षा कम हुआ है। ऋग्वेद में इनकी शारीरिक विशेषताओं में इनके एक हाथ है, इनकी भुजा एवं शारीरिक रचना सुगठित है। इनका रंग भूरा है, सुन्दर होंठ हैं। इनके बाल घुंघराले हैं। ये द्युतमान सूर्य की भांति दैदीप्यमान हैं। ये स्वर्णिम आभूषणों से सुसज्जित हैं, रथारूढ भी हैं। रुद्र के शस्त्रों का भी उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। उनके हाथ में वज्र है, उनका विद्युत् कृपाण आकाश से आकर पृथ्वी पर भ्रमण करता है।

उनके पास धनुष-बाण, भी है। एक बात उनकी विशेष उल्लेखनीय यह है कि उनका साहचर्य मरुतों के साथ है। वे उनके पिता हैं, मरुतों के विषय में लिखा है कि रुद्र के पुत्र हैं। ऋग्वेद में उन्हें अनुदार देव माना गया है। यही नहीं, वे मृग की भांति भीम एवं घातक हैं। वे द्युलोक के वराह हैं, वे वृषभ हैं, वे बलिष्ठ, अजेय हैं; त्वरित गति भी हैं। वे युवा हैं। इसी प्रकार की उनकी अनेक विशेषताओं का उल्लेख मिलता है। वे सरिताओं को धरती पर प्रवाहित करते हैं, गर्जन-तर्जन के साथ सभी चीजों को आर्द्र करते हैं। वे प्रचेतस हैं, कवि हैं। वे कामों के पूर्ण कर्ता हैं, अन्नादि के दाता हैं, वे ही कल्याणकारी शिव हैं।

उषस्—प्रातःकाल की अधिष्ठात्री देवी उषा के निमित्त ऋग्वेद में लगभग 20 सूक्त हैं। तीन सौ बार से अधिक इसका उल्लेख हुआ है। उषा की रचना वैदिक काल की सबसे मनोरम कल्पना है और संसार के किसी भी साहित्य में उषा से अधिक आकर्षक चरित्र नहीं मिलता। उषा अपने शरीर को शुभ्रवस्त्रों से आवृत्त करके नर्तक की भांति अपने वक्षस्थल का प्रदर्शन करती है। माता द्वारा प्रसाधित कुमारी की भांति वह अपनी छवि को फैलाती है। प्रकाश के वसन को धारण कर वह पूर्व दिशा से उदित होती है। आकर्षक छवि से पूर्ण अद्वितीय सौन्दर्यवती उषा अन्धकार का निवारण कर अपने प्रकाश को सभी को समान रूप से दान करती है। उषा पुराण युवती है। पुरानी होकर भी चिर नवीन है। जैसे वह पहले चमकती थी वैसे ही आज भी। उषा सोते हुए को जगाती है, प्राणी मात्र को द्विपद, चतुष्पद, पक्षी गणों को भी गति देती है। सभी के लिए नवजीवन दान करती है। रात्रि के वसन का अपसारण करती है, दुरात्माओं और कलुषित अन्धकार का निवारक है। उसका रथ ज्योतिष्मान् है। सैकड़ों रथों पर आरूढ़ वह रक्त घोड़ों से खींची जाती है। वह एक दिन में तीस योजन मार्ग चल लेती है। उषा का सूर्य से निकट सम्बन्ध है। यज्ञाग्नि नियमतः उषा काल में समृद्धि होती है, अतः वह अग्नि से भी सहज ही सम्बद्ध हो जाती है। उषा देवी की उपासना में उपासकों पर कृपालु होने के लिए अनेकशः प्रार्थनाएँ की गई हैं। धनधान्य, वैभव, पुत्र पौत्रादि के साथ सुरक्षा और दीर्घ जीवन प्रदान करने के लिए भी प्रार्थनाएँ हैं।

अग्नि—पृथ्वी स्थानीय देवों में अग्नि प्रमुख है। इन्द्र के बाद वैदिक देवों में अग्निदेव का ही स्थान है। ऋग्वेद में इनके लिए लगभग 200 सूक्त हैं। अन्य अनेक सूक्तों में अन्य देवों के साथ भी संस्तुत हैं। वैदिक कवियों ने सरल, तीक्ष्ण, हृदयस्पर्शी वणी में अग्नि का स्तवन किया है। अग्नि मानव मित्र है, वह मनुष्य और देवताओं के बीच मध्यस्थ और दूत का काम करता है, अग्नि गृहस्थी का देवता है। अग्नि गृहस्थों के बाल-बच्चों की रक्षा करता है, अतः गृहपति भी कहा गया है। अग्निदेव प्रत्येक गृह के अतिथि भी हैं। अग्नि शब्द भौतिक अग्नि का भी द्योतक है। अतः अग्निदेव की स्थिति प्रारम्भिक अवस्था की है। वे घृतपृष्ठ, घृत प्रतीक, मन्दजिह्व हैं। अग्नि-घृत लोभ, ज्वाललोभ, हरिकेश, हिरण्यश्मश्रु भी हैं। उनके जबड़े तेज एवं तप्त हैं, उनके दांत स्वर्णिम अथवा

प्रकाशमान हैं। उनकी जिह्वा का अनेकशः उल्लेख मिलता है जो कि तीन या सात है, उनके अश्व भी सप्तजिह्व हैं। अग्नि की उपमा अनेक पशुओं से दी गई है और अचेतन पदार्थों से भी अग्नि की तुलना अनेक बार की गई है। सूर्य की भांति वे स्वर्णिम हैं। जब अग्निदेव अपनी जिह्वा फैलाते हैं तो वह कुल्हाड़ी की भांति दीखती हैं, उन्हें स्वयं रथ भी बताया गया है। अग्नि के प्रकाश का भी सुन्दर वर्णन किया गया है वे भास्वर एवं भास्वर ज्वालाओं वाले हैं, वर्ण भी उनका भास्वर है। वे हिरण्यरूप हैं और सूर्य की भांति भासित भी हैं, उनकी प्रभा उषा, सूर्य और मेघ विद्युत् जैसी हैं वे रात्रि में भी चमचमाते हैं, सूर्य की भांति अंधकार को ध्वस्त करते हैं, अग्नि के पथ आदि कृष्ण वर्णों के हैं, उनकी लपटों में समुद्र वीथियों जैसी गर्जन-तर्जन भी है। अग्निदेव विद्युत् रथ पर दमकते हैं, ऐसे रथ पर जो कि द्युतिमान, प्रकाशमान, भास्वर, चमकीला, स्वर्णिम और मंजुल है। वैदिक ऋषियों के अनुसार अग्नि के पिता द्यौस् हैं। यही नहीं, उनका जन्म अरणियों के संघर्ष से ही माना जाता है। इस नाते अरणियां भी अग्नि के माता-पिता हैं। यह जब बच्चों के रूप में जन्म लेता है तो अपने माता-पिता को खा जाता है। आकाश में वह सूर्य रूप में चमकता है। पृथ्वी पर काष्ठदण्डों से उत्पन्न होता है तथा जल में बड़वानल के रूप में। अग्नि को वृषभ कहा गया है, क्योंकि जलते समय वह वृषभ नाद जैसी ध्वनि करता है। इसे आकाश का पक्षी कहा जाता है, क्योंकि तड़ित भी इसी का एक रूप है।

सोम—सोम ऋग्वेद के महान् देवों में से हैं। इसके लिए नवम मण्डल के 114 सूक्त तथा अन्य मण्डलों के 86 सूक्त पूर्णतः लिखे गए हैं। कुछ सूक्तों में अंशतः इसकी स्तुति की गई है। मन्त्रों की दृष्टि से ऋग्वेद में सोमदेव तृतीय स्थान के अधिकारी हैं। सोम का मानवीय विग्रह अधिक विकसित नहीं हो सका है। सोम का वनस्पति रूप अधिक उभर कर आया है। नवम मण्डल में प्रधान रूप में स्थूल सोम का गुणगान अधिक किया गया है। सोम का पाषाणों से सेवन किया जाता है और देवों को यह पेय रूप प्रदान किया जाता है। यह स्वच्छ एवं विचारों में परिवर्तन भी कर देता है तथा मादकता इसका गुण है। यह वनस्पतियों में शिरोमणि है। इसका घर पर्वत है। मूल उत्पत्ति स्थान स्वर्ग है, जहां से श्येनपक्षी इसे भूतल पर लाया था।

इस प्रकार ऋग्वेद में आये हुए कुछ देवताओं के स्वरूप का हमने यहां विवेचन प्रस्तुत किया है। वैसे अन्य अनेक देव भी हैं जिनका विस्तार के भय से उल्लेख नहीं किया गया है। इन देवों में विवस्वान, आदित्य, अपानपात् मातरिश्वन् वायु, आपः, बृहस्पति, यम विशेष हैं। ऋग्वेद के देवतावाद का अध्ययन करते समय देवता-युग्म तथा देवगणों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। उनका भी यहां उल्लेखनीय महत्त्व है।

वेदों का रचनाकाल

भारतीय आस्तिक विचारधारा के विद्वान् वेदों को अपौरुषेय अनादि एवं शाश्वत मानते हैं; उनकी मान्यता है कि ऋषियों के सहज शुद्ध अन्तःकरण में मन्त्रों का प्रादुर्भाव हुआ। इन ऋषियों ने मन्त्रों का दर्शन किया है, क्योंकि 'ऋषयो मन्त्रं दृष्टारः' ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा होते हैं, स्रष्टा नहीं। इस प्रकार उनके मत में वेदों की रचना का अर्थ होता है ब्रह्म के निःश्वास भूत मन्त्रों का ध्यान नेत्रों द्वारा साक्षात्कार।

भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों के रचना समय का निर्धारण करने का प्रयास किया है। भारतीय विद्वान् पण्डित दीनानाथ शास्त्री चुरैट ने 'वेदकाल-निर्णय' नामक पुस्तक में ज्योतिष गणना के द्वारा यह सिद्ध किया है कि वेदों का रचनाकाल आज से लगभग 300000 वर्ष पूर्व का है; किन्तु पाश्चात्य विद्वान् इस विश्वास में अपना अभिमत प्रकट नहीं करते हैं। उनका कहना यह है कि वेद ईश्वरकृत नहीं हैं, वे ऋषिकृत हैं। उनकी रचना क्रमशः एवं हजारों वर्षों में हुई है। ईसाइयों की धर्म पुस्तकों में सृष्टि का रचनाकाल लगभग आठ हजार वर्षों का है। इसलिए पाश्चात्य विद्वान् वैदिक संस्कृति एवं वैदिक साहित्य को इन आठ हजार वर्षों से ऊपर नहीं ले जाना चाहते हैं, इसलिए वे वेदों के रचना-काल की अन्तिम सीमा अधिक से अधिक चार हजार वर्ष तक मानते हैं। एक बात और भी है कि भारतीय आस्था के अनुसार वेद ईश्वर के निःश्वास से समुद्भूत हैं। उसके विषय में पाश्चात्य विद्वानों का अपना मत है कि जब भाषा का विकास क्रमशः हुआ है, फिर वेद के शब्द एवं भाषा एक साथ एक रूप में कैसे आ सकते हैं और वह भी सृष्टि के आदि में। भाषा का विकास एक लम्बी जीवन-यात्रा की अमर कहानी है। इसलिए पाश्चात्य विद्वानों ने अपने इसी मत के अनुसार ऋग्वेद के काल-निर्धारण का प्रयत्न किया है।

डॉ. ए. वेबर ने 'भारतीय साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक में वैदिक साहित्य को अत्यन्त प्राचीन स्वीकार किया है। ऋग्वेद से यह आभास मिलता है कि उस काल में आर्य पंजाब में अवस्थित थे। भारतीय सीमा को पार कर धीरे-धीरे पूर्व में गंगा की ओर बढ़ने का संकेत उत्तर वैदिक काल में होता है। दक्षिण में ब्राह्मण धर्म के प्रसार के संकेत हमें महाकाव्यों में उपलब्ध होते हैं अतः यह निश्चित है कि दक्षिण में ब्राह्मण धर्म के प्रसार के पूर्व शताब्दियां व्यतीत हो चुकी होंगी। ऋग्वेद की प्रकृति पूजा से उठकर उपनिषद् ग्रंथों के आध्यात्मिक तथा दार्शनिक तत्त्वों तक पहुंचने वाले सिद्धान्तों के विकास में तथा उन पौराणिक धर्म-सिद्धान्तों के विकास में अवश्य ही शताब्दियों की अवधि लगी होगी, जिन्हें ईसा पूर्व 300 में मेगस्थनीज ने भारत में प्रचलित पाया था।

मैक्समूलर ने तिथि निश्चय की दिशा में सर्वप्रथम प्रयास किया है। उसने 'प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास' नामक ग्रंथ में इस पर विचार किया। उनका कहना है कि बौद्धधर्म ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया मात्र है। अतः

इससे कल्पना की जा सकती है कि इससे पूर्व वैदिक साहित्य अवश्य निर्मित हो चुका होगा। अतः समस्त वैदिक साहित्य प्राक् बौद्धकालीन (500ई.पू. से पहले का) है। वेदांग अथवा सूत्र साहित्य अवश्य बौद्धधर्म की उत्पत्ति एवं विकास के प्रथम चरण के काल की रचना है। इस सूत्र साहित्य का समय उन्होंने 600-200 ई.पू. निश्चित किया है। उनके विचार से ब्राह्मण साहित्य के विकास में भी 200 वर्ष अवश्य लगे होंगे; अतः ब्राह्मणों का रचना-काल 800 से 600 ई.पू. है। वैदिक संहिताओं का सम्पादन 1000-800 ई.पू. में हुआ होगा। सम्पादन से पूर्व 200 वर्ष तक मन्त्र लोकप्रिय प्रार्थना के रूप में भी रहे होंगे। अतः यह युग 1200-1000 ई.पू. में हुआ होगा। इस प्रकार वैदिक मन्त्रों की रचना का प्रारम्भ 1000-1200 ई.पू. में हुआ होगा।

L. Von. Schroeder ने 1500-2000 ई.पू. वेदों का रचना-काल माना है। जैकोबी ने 300ई.पू. वेदों का समय स्वीकार किया है। जैकोबी का आधार ज्योतिष था, ज्योतिष गणना के आधार पर समय निर्धारण नई बात नहीं थी। लुडविग सूर्यग्रहण के आधार पर इस प्रकार का एक प्रयत्न कर चुका था। ब्राह्मण यज्ञ के लिए समय का निर्धारण आकाश देखकर किया करते थे। इसीलिए ब्राह्मण ग्रंथ एवं सूत्र साहित्य में ज्योतिष विषयक विवेचन मिलते हैं, विशेषतः नक्षत्रों का वर्णन मिलता है। नक्षत्रों के हिसाब से चन्द्र की गति का अध्ययन किया जाता था, जिसके आधार पर विभिन्न यज्ञ विभिन्न अवसरों पर किए जाते थे। इसी ज्योतिष के आधार पर प्रो. जैकोबी एवं बाल गंगाधर तिलक ने वैदिक साहित्य के प्रणयन के विषय में कतिपय नवीन निष्कर्ष निकाले हैं जो इस प्रकार हैं—

That at the period of the Brahmans, the pleiades (कृत्तिका) which at the time formed the starting point of the Nakshatra series, coincided with the Vernal equinox, but that in the Vedic texts there are also to be found traces of an order Calendar, in which Vernal equinox fell in orion (मृगशिरा), From the calculation of the value of the parcession, however; it appears that about 2500 B.C. the Vernal equinox lay in the pleiades and about 4500 B.C. in orion.

उस काल में नक्षत्र गणना कृत्तिका नक्षत्र से प्रारम्भ होती थी जबकि आज नक्षत्र गणना अश्विनी नक्षत्र से प्रारम्भ होती है। प्रो. जैकोबी को ब्राह्मणकाल में एक ऐसा वर्णन मिलता है कि उस समय भी कृत्तिका नक्षत्र उदित होता था और वासन्तिक संक्रांति (Vernal equinox) भी था। अयन गति की गणना के आधार पर उन्होंने यह सिद्ध किया कि वह वासन्तिक संक्रान्ति ई.पू. 2500 में हुई थी। इसी प्रकार वैदिक संहिताओं के अध्ययन करते समय तिलक महोदय ने मृगशिरा नक्षत्र में वासन्तिक संक्रांति का उल्लेख किया है। अयन गति के आधार पर यह दशा 4500 ई.पू. में संभावित है। यह संहिताओं का रचना-काल था। प्रो. जैकोबी भी ब्राह्मण ग्रंथों की रचना के पूर्व संहिताओं के

रचना-काल के लिए आनुमानिक कल्पना करते-करते सभ्यता के विकास का उदय-काल 4500 ई.पू. तक स्वीकार करते हैं और तिलक महोदय यह काल ई.पू. 6000 वर्ष स्थापित करते हैं। प्रो. जेकोबी ने अपने मत को प्रमाणित करने के लिए तत्कालीन प्रचलित एक ऐसी विवाह परिपाटी का उल्लेख किया है, जिसमें वर-वधू ध्रुव नक्षत्र के दर्शन करते हैं और उसके समान ही अपने प्रणय सम्बन्ध के चिरस्थायित्व की प्रार्थना करते हैं। जेकोबी के अनुसार इस वैवाहिकी प्रथा का उद्गम उस काल में हुआ था, जबकि ध्रुव नक्षत्र उत्तरी ध्रुव के इतने समीप विद्यमान था कि लोगों को वह स्थिर दिखलाई पड़ता था। इस काल को उन्होंने 3000 ई.पू. का पूर्वार्द्ध निश्चित किया है। फलतः उनके मत में संहिता काल 4500 ई.पू. से 2500 ई.पू. तक निश्चित होता है।

जे. हर्टल का मत है कि ऋग्वेद का प्रादुर्भाव उत्तर-पश्चिम भारत में नहीं अपितु ईरान में हुआ था और उसका प्रणयन जोरस्टर (500 ई.पू.) के पूर्व नहीं हुआ। G. Huasting शिलालेखों में प्राप्त राजाओं के नाम इस प्रकार घुमाते और मरोड़ते हैं कि वे भारतीय राजाओं के नामों में परिवर्तित हो जाते हैं। इन तथ्यों के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि लगभग 1000 ई.पू. में भारतीय आरमेनिया से अफगानिस्तान आये; उनकी मान्यता के अनुसार ऋग्वेद की रचना स्थली यही है, क्योंकि ऋग्वेद में वर्णित दृश्यों की तुलना वे अफगानिस्तान के दृश्यों से करते हैं। इस प्रकार उन्होंने ऋग्वेद की रचना 1000 ई.पू. के लगभग सिद्ध की है।

शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथ ब्राह्मण के एक प्रमाण के आधार पर ऋग्वेद का निर्माण काल 3200 ई.पू. में संभावित किया है।

सर आर.जी. भण्डारकर 'केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' में वैदिक काल के निर्णय का प्रयत्न करते हैं। उनकी मान्यता है कि वैदिक असुर एवं असूरियन शब्द में पारस्परिक समता है, फलतः उनके मत में वैदिक ऋचाओं का निर्माण काल 2500 ई.पू. में निश्चित होता है।

सिकन्दर के शासन-काल में ग्रीक विद्वानों ने भारतीय राजाओं की वंशावली संगृहीत की थी, उसके अनुसार चन्द्रगुप्त तक 154 राजवंश 6457 वर्षों तक भारत में राज्य कर चुके थे। निश्चय ही इन समस्त राजाओं से पूर्व ऋग्वेद बन चुका था। इस तरह ऋग्वेद का रचना-काल 8000 वर्षों का कहा जा सकता है।

वेद रचना-काल के सम्बन्ध में मैक्समूलर आदि विद्वानों के मतों का विवेचन करते हुए जी. बूहलर ने लिखा है कि शिलालेखों, भाषा-साहित्य तथा संस्कृति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक संहिताओं की अवधि अनेक सदियों की है। इसी प्रकार विन्टरनिट्ज ने विभिन्न मतों का विवेचनात्मक उपसंहार करते हुए लिखा है कि वेदों का काल-निर्धारण करना सम्भव नहीं है और अन्ततः वह 2500 ई.पू. ऋग्वेद का रचना-काल मानता है। ऋग्वेद के

निर्माण-काल के विषय में ऊपर कुछ प्रधान एवं अप्रधान मतों का निर्देश किया है। इन सभी विचारों के होते हुए भी हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाते हैं। इसीलिए फ्रेडरिक श्लेगेज ने लिखा है कि संसार में सबसे प्राचीन ग्रंथ वेद हैं। इसका समय निश्चित नहीं किया जा सकता है। इनकी भाषा भारतीयों के लिए भी उतनी ही कठिन है, जितनी विदेशियों के लिए। Enlightenment upon the history of the primitive world so dark until now. वेदों के विद्वान् वेबर ने भी लिखा है, "वेदों का समय निश्चित नहीं किया जा सकता है, ये उस तिथि से बने हुए हैं जहां तक पहुंचने के लिए हमारे पास उपयुक्त साधन नहीं हैं। वर्तमान प्रमाण राशि हम लोगों को उस समय के उन्नत शिखर पर पहुंचाने में सदा असमर्थ हैं। वस्तुतः जब विभिन्न मतों में इतने वर्षों का अन्तर है फिर एक मत से कैसे किसी निश्चित समय का संकेत किया जा सकता है। हां, इस विश्व में ऐतिहासिक अनुसंधान के लिए पर्याप्त क्षेत्र हैं। वेद काल-निर्धारण के समग्र मन्थन के उपरान्त इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि वेदों का रचना-काल अब इतना अर्वाचीन नहीं है जितना कि पहले माना जाता था। पश्चिम विद्वान् भी आज से लगभग 5000 वर्ष पूर्व वेदों का रचना-काल मानते हैं।

ऋग्वेद में दार्शनिक तत्त्व

ऋग्वेद में हमें आत्मा-परमात्मा, सुख-दुःख, सृष्टि की उत्पत्ति तथा ब्रह्म आदि से संबंधित वैदिक ऋषियों की मान्यताओं का परिचय मिलता है। वैदिक ऋषि सांसारिक कष्टों से परिचित थे; इसलिए कष्टों के निवारण के लिए, दीर्घ-जीवन के लिए वह उपासना करते हुए देखा जाता है। वैदिक ऋषि ज्ञान और सुख की प्राप्ति के कारण से भी परिचित थे, इसलिए आत्मा-परमात्मा के ऐक्य की कामना यत्र-तत्र दृष्टिगत है।

संसार के शाश्वत नियमों की प्रतिष्ठा करने वाला 'ऋत' ही है। प्रत्येक प्राकृतिक तत्त्व सूर्य-चन्द्र और विभिन्न देव 'ऋत' से ही प्रेरित है, 'ऋत' ही संसार का नियामक है। इस प्रकार 'ऋत' के रूप में एक तत्त्व की कल्पना ऋग्वैदिक ऋषियों की अपनी विशेषता है।

ऋग्वेद में अनेक देव अन्ततः एक देव के ही विभिन्न रूप हैं। ऋग्वेद विश्व के एक नियन्ता से परिचित हैं, अनेकता में एकता, भिन्नता में अभिन्नता की कल्पना दार्शनिक जगत् में एक मौलिक तत्त्व है। इसी देव को वैदिक ऋषियों ने प्रजापति, हिरण्यगर्भ और पुरुष आदि के नामों से पुकारा है। ऋग्वेद दशम मण्डल का एक सूक्त ही हिरण्यगर्भ की स्तुति का प्रतिपादन करता है। यह सूक्त गम्भीर आध्यात्मिक भावनाओं से भरपूर है। "यह हिरण्यगर्भ सबसे पहले उत्पन्न हुआ और उत्पन्न होने पर समस्त प्राणियों का एकमात्र अधिपति हुआ। यह इस पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश को धारण करने वाला है। यज्ञादिकों में उन्हीं के प्रसादन के लिए हम हवि का होम करते हैं—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

—ऋ. 10/121/1

यह हिरण्यगर्भ समस्त प्राणियों का प्राणदाता है। अमरत्व तथा मृत्यु छाया के समान उसके अधीन रहती है—

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वेउपासते प्रसिषं यस्य देवा ।
यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

—ऋ. 10/121/2

इसी हिरण्यगर्भ से सभी देव आशीष की कामना करते हैं। वह प्राणिमात्र का स्वामी है। हिमालय, समुद्र और भूमि उसकी महिमा के प्रतीक हैं। दिशाएँ प्रदिशाएँ उसकी भुजाएँ हैं। “उसके माध्यम से आकाश प्रकाशमान है, पृथ्वी स्थित है और स्वर्ग-लोक प्रतिष्ठित है। उसी ने अन्तरिक्ष में रजलोक की माप की है। सूर्य उदित होकर उसी के ऊपर प्रकाश करता है। वह देवताओं का प्राण है और पृथ्वी का जनयिता है। वह हमारा नाश न करे। वह सत्यधर्मा है। उसने दिवलोक को उत्पन्न किया। उसी से सुप्रकाश-जल की उत्पत्ति हुई।”

—ऋग्वेद 10/121/4-9

ऋग्वेद में ब्रह्म के सर्वव्यापी होने की भी कल्पना मिलती है। इसकी सबसे सुन्दर कल्पना पुरुष सूक्त में मिलती है। वह सहस्र शीर्ष पुरुष है, वह हजार नेत्रों वाला, हजार पैरों वाला है, वह चारों ओर से इस पृथ्वी को घेर कर परिणाम में दश अंगुल से अधिक है। जो कुछ वर्तमान है, जो उत्पन्न हो चुका है और भविष्य में होगा, वह सब पुरुष ही है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।

(10/9/2)

इस सम्पूर्ण सूक्त में सर्वेश्वरवाद की प्रतिष्ठा हुई है। अदिति सूक्तों में ऋषि कहता है कि अदिति ही आकाश है, अदिति अन्तरिक्ष है, अदिति माता है और अदिति पिता तथा पुत्र है; अदिति समस्त देवता है; अदिति पंचजन है, जो कुछ उत्पन्न है और होने वाला है वह सब अदिति है—

अदितिद्यौरदितिरन्तरिक्ष,

अदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।

विश्वे देवा अदितिः पंचजना,

अदितिर्जतिमदितिर्जनित्वम् ॥

—ऋ. 1/89/10

ऋग्वेद में विश्व की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद का नासदीय सूक्त (10/129) इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह सूक्त अद्वैत तथा आध्यात्मिक भावना की अनुपम अभिव्यंजना करता है। इस विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई है? इसके मूल में कौन-सा तत्त्व है? सर्वप्रथम किस तत्त्व की उत्पत्ति हुई? इसका उत्तर देते हुए ऋषि कहता है कि—“उस समय न तो सत् था और न असत् ही। आकाश भी विद्यमान नहीं था और न ही उससे ऊपर का अन्तरिक्ष था। किसने उसे आवृत कर रखा था? वह कहाँ था और किसके आश्रय में रहता था? क्या वह गहन और गम्भीर जल था—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्न
अम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥

मृत्यु भी नहीं थी, अतः अमरता की भावना भी नहीं थी। रात्रि और दिन भेदक प्रकाश भी नहीं था। वह एक ही उस समय बिना श्वास-प्रश्वास की क्रिया के जीवित रहने वाला ब्रह्म विद्यमान था। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं था—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अन्ह आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं
तस्मादवान्यन्न परः किं च नास ॥2॥

उस समय अन्धकार था। प्रारम्भ में यह सब समुद्र के रूप में था। प्रकाशरहित ऐसा अंकुर जो भूमि से आच्छन्न था, वह एक उष्मा (तपस्) की शक्ति से उत्पन्न हुआ था।

तम आसीत्तमसागूक्हमग्रे
अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् ।
तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥

प्रारम्भ में काम ने उसे आविर्भूत किया जो मानस से उत्पन्न हुआ बीज था, कवियों ने अपने हृदय में अनुसंधान के पश्चात् बुद्धि द्वारा असत् के साथ सत् के बन्धन का पता लगाया—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि,
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्,
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

उनकी किरण सर्वत्र व्याप्त थी, वह ऊपर थी अथवा नीचे थी? बीज को धारण करने वाले थे, शक्तियाँ भी थीं, आत्मशक्ति नीचे और इच्छाशक्ति ऊपर थी—

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम् ।
अधः स्वदासीदुपरि स्वदासीत् ।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्,
स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥

तब फिर जानने वाला कौन है; किसने इसकी यहां घोषणा की, किससे यह सृष्टि उत्पन्न हुई? देवगण इसकी उत्पत्ति के अनन्तर आये। तब फिर कौन जानता है कि सृष्टि कहां से उत्पन्न हुई—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् ।
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ॥
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा ।
को वेद यदि वा न वेद ॥

कौन जानता है कि सृष्टि कहां से उत्पन्न हुई? जिससे इस सृष्टि का विकास हुआ, उसने इसे बनाया या नहीं बनाया; सर्वदर्शी, सर्वव्यापी वही यथार्थ रूप से जानता है अथवा क्या वह भी नहीं जानता—

इदं विसृष्टियत आबभूव
यदि वादधे यदि वा न ।
योअस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो ।
अंग वेद यदि वा न वेद ॥

इस सूक्त में सृष्टि को उत्पत्ति के विषय का एक अत्यन्त उन्नत सिद्धान्त प्राप्त होता है। प्रारम्भ में न तो सत् था और न ही असत्। सत् भी उस समय अपने अभिव्यक्त रूप में नहीं था। केवल इसीलिए हम उसे असत् नहीं कह सकते, क्योंकि वह एक निश्चित सत्ता है जिससे सब सत् पदार्थ अविर्भूत हुए। परम सत्ता को, जो समस्त विश्व की पृष्ठभूमि में है, हम सत् अथवा असत् किसी भी रूप में ठीक-ठीक नहीं जान सकते। वह ऐसी सत्ता है जो अपनी ही सामर्थ्य से बिना श्वास-प्रश्वास की क्रिया के जीवित है। उसके अतिरिक्त और कोई वस्तु उसके परे नहीं थी। इन सबका आदिकारण समस्त विश्व से प्राचीन है। जो सूर्य, चन्द्रमा, आकाश और नक्षत्रों से युक्त है। यह काल की, देश की, आयु, मृत्यु और अमरता आदि सबकी पहुंच के बाहर और उनसे परे है। वह एक है, अद्वितीय है, वही अग्नि, मातरिश्वा, यम आदि देवता के रूप में विभिन्न रूप धारण करता है। वह एक है किन्तु कवि उसे अनेक नामों से पुकारते हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णा गरुत्मान् ।
एकं सदं विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

—ऋ. 1/164/46

ऋग्वेद में सर्वव्यापी ब्रह्म सत्ता का यत्र-तत्र निरूपण है। ऋग्वेद में आत्मा के सम्बन्ध में प्राचीनतम मान्यता इस रूप में मिलती है—

**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकसीति।।**

अर्थात् दो पक्षी संयुक्त रूप में मित्रवत् एक वृक्ष की शाखा पर बैठे हैं। उनमें से एक मधुर फल खाता है और दूसरा न खाते हुए केवल देखता रहता है। अथर्ववेद के मन्त्र में यही धारणा व्यक्त की गई है। इसमें खाने वाला पक्षी आत्मा और द्रष्टा पक्षी परमात्मा है।

उपनिषद् काल में वैदिक दार्शनिक विचारों की परिपक्वता मिलती है। परमसत्ता, जगत् का स्वरूप, सृष्टि की समस्या, व्यक्ति का विश्लेषण, व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य, उसका आदर्श, कर्म, मोक्ष-बन्ध तथा पुनर्जन्म विषय विचार उपनिषदों में मिलते हैं। इन्हीं, औपनिषदिक मान्यताओं को परवर्ती षड्-दर्शनों में अंगीकार किया गया है।

यजुर्वेद

यजुर्वेद यज्ञों में होने वाले मन्त्रों का संग्रह है। इन मन्त्रों को यजुष् कहते हैं। ये मन्त्र अधिकांश गद्यात्मक हैं। कहीं-कहीं पद्यात्मक भी हैं। ऋक् तथा साम से भिन्न गद्यात्मक मन्त्रों का अभिधान यजु है। “गद्यात्मको यजुः”। महाभाष्य की भूमिका में पतंजलि ने यजुर्वेद की एक सौ एक शाखाओं का उल्लेख किया है—**एकशतमध्वर्युशाखा**। कहने का आशय यही है कि इस वेद की अनेक शाखाओं का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। लेकिन आज यजुर्वेद की केवल पांच शाखाएं ही उपलब्ध हैं—(1) काठक अथवा कठ की शाखा, इस शाखा के अनुयायी यूनानी आक्रमण के काल में पंजाब में रहते थे, उसके पश्चात् वे काश्मीर में रहने लगे और उनका वर्तमान निवास काश्मीर है। (2) कपिष्ठल शाखा—यह शाखा आंशिक रूप में जीर्ण-जीर्ण स्थिति में मिली है। (3) मैत्रायणी संहिता—मैत्रायणीय परम्परा की संहिता है। इस शाखा के अनुयायी उस काल में नर्मदा से दक्षिण की ओर प्रायः सौ मील तक एवं नासिक से बड़ौदा तक बसे हुए थे। आज भी गुजरात एवं अहमदाबाद में इनका अस्तित्व प्राप्त होता है। (4) तैत्तिरीय शाखा अथवा आपस्तम्ब संहिता—पहले इस शाखा के अनुयायी नर्मदा के दक्षिण में रहते थे। इसकी एक उपशाखा का नाम हिरण्यकेशिन् भी है। उपर्युक्त चारों संहिताओं में परस्पर साम्य है। इन्हें कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा कहा जाता है। (5) वाजसनेयी संहिता—यह शाखा यजुर्वेद की पांचवीं शाखा है जो शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इस शाखा का नाम याज्ञवल्क्य वाजसनेयी के नाम पर पड़ा है जो कि इसके प्रथम आचार्य हैं। इसकी दो शाखाएं मिलती हैं—एक कण्व; दूसरी माध्यन्दिन। यजुर्वेद के मुख्य दो भेद हैं—कृष्ण यजुर्वेद एवं शुक्ल यजुर्वेद।

वाजसनेयी संहिता (शुक्ल यजुर्वेद)

यजुर्वेद की यह महत्त्वपूर्ण संहिता है। इस संहिता में चालीस अध्याय हैं। इन अध्यायों में अनेक प्रकार के बृहदाकार यज्ञों से सम्बद्ध ऋषियों की प्रार्थनाओं का संकलन है। प्रथम एवं द्वितीय अध्याय में चन्द्र दर्शन एवं पोर्णमासी आदि के लिए मन्त्र संकलित हैं। तृतीय अध्याय में दैनिक अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य यज्ञ के मन्त्रों का संग्रह है। चतुर्थ से अष्टम अध्याय तक अग्निष्टोमादि सोमयज्ञों एवं पशुबलि सम्बन्धी मन्त्र मिलते हैं। इन सोमयज्ञों की परम्परा में कुछ यज्ञ ऐसे हैं जो कि एक दिन में समाप्त होते हैं और कुछ अनेक दिनों तक चलते हैं। वाजपेय यज्ञ एक दिन में समाप्त होने वाले यज्ञों में प्रधान है। यह यज्ञ मूल रूप में योद्धाओं एवं राजाओं द्वारा संपादित किया जाता था। इस यज्ञ में सोम के साथ सुरापान भी चलता था परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में प्रस्तुत सुरापान का नियमों द्वारा बहिष्कार किया है। इन अध्यायों में राजाओं से संबंधित

एक राजसूय यज्ञ का भी उल्लेख उपलब्ध होता है। प्रस्तुत दो प्रकार के सोमयज्ञों की प्रार्थनाओं का संग्रह नवम एवं दशम अध्याय में किया गया है। एकादश अध्याय से अष्टादश अध्याय तक अग्निचयन के हेतु की गई विभिन्न प्रार्थनाओं एवं विविध याज्ञिक नियमों का संग्रह है। अग्नि चयन का क्रम वर्ष-भर तक चलता रहता है। इसके निमित्त निर्मित होने वाली अग्निवेदिका का भी वर्णन इसमें मिलता है। प्रस्तुत वेदी की रचना 10800 ईटों से की जाती थी।

19-20 अध्याय में सौत्रामणि उत्सव के प्रयोग का विधान है। यह एक विशेष याज्ञिक उत्सव था जिसमें सोमपान के साथ सुरापान का भी प्रयोग किया जाता था—“सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्” का निर्देश है। यह सुरा इन्द्र-अश्विनकुमार आदि को आहुति द्वारा प्रदान की जाती थी। इस यज्ञ का विधान सफलता के अभिलाषी ब्राह्मण, खोये हुए राज्य को पुनः प्राप्त करने के इच्छुक राजा तथा विजयाभिलाषी, वीर, समृद्धि के अभिलाषी वैश्य के लिए किया गया था। 22 से 25 अध्याय तक अश्वमेध यज्ञ का प्रार्थनाओं का संकलन है। शक्तिशाली राजा विजेता और सार्वभौम सम्राट ही इसका अनुष्ठान किया करता था। 22वें अध्याय में प्रस्तुत संहिता के पूर्वार्द्ध की समाप्ति हो जाती है। 26 से 40 अध्याय पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में नवीन संग्रह हैं। 26 से 35 अध्याय तक खिल सूक्त हैं। खिल का अर्थ है—परिशिष्ट। 30वें अध्याय में यद्यपि कोई प्रार्थना नहीं है तथापि इसमें पुरुष मेध यज्ञ का विधान है।

31वां अध्याय भी इसी प्रकार का है। इसमें पुरुष सूक्त संगृहीत है। ऋग्वेद के समान इसमें भी उल्लेख मिलता है कि पुरुष की बलि से ही विश्व की सृष्टि होती है। 32वां अध्याय अपने स्वरूप एवं विषम वर्णन की दृष्टि से एक उपनिषद् के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस अध्याय में प्रजापति का पुरुष और ब्रह्म से अभेद दिखलाया गया है। 43वें अध्याय के 6 मन्त्र भी उपनिषद् की कोटि में आते हैं। इन्हें शिवसंकल्पोपनिषद् के नाम से अभिहित किया जाता है। 32वें अध्याय से 34वें अध्याय तक की प्रार्थनाएं यज्ञ में प्रयुक्त होती थीं। यह एक महान् यज्ञ था जिसमें यज्ञकर्त्ता यजमान पुरोहित को अपना सर्वस्व याज्ञिक दक्षिणा के पुरस्कार में अर्पण कर देता था। स्वयं जीवन के शेष क्षणों को अरण्य में व्यतीत करने के लिए वानप्रस्थी हो जाता था। 35वें अध्याय में अन्त्येष्टि क्रिया से सम्बद्ध ऋचाएं हैं, जिन्हें ऋग्वेद से ग्रहण किया गया है। 36 से 39 अध्याय में उत्सव की प्रार्थनाओं का संकलन है। इस यज्ञ के अवसर पर यज्ञ की अग्नि पर एक कढ़ाह खूब गर्म किया जाता था (यह एक प्रकार से सूर्य को प्रतीक समझा जाता था)। इस कढ़ाह में दूध गर्म करके अश्विनीकुमारों को समर्पित किया जाता था। यह उत्सव एक रहस्यात्मक कृत्य था। इस उत्सव के अन्त में यज्ञ-पात्र इस रूप में रखे जाते थे कि मनुष्य की आकृति का निर्माण होता था। दूध के बर्तन से सिर बनाया जाता था। बालों के स्थान पर कुशा (घास) की स्थापना की जाती थी। दो छोटे दूध के प्याले रखकर कानों का निर्माण होता था। दो स्वर्णिम पंक्तियों से आंखें बनाई जाती थीं; दो कटोरों से एड़ियों का

निर्माण होता था। वाजसनेयी संहिता का 40वां अध्याय पुनः एक उपनिषद् के रूप में आता है। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है जो ईशोपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है।

वाजसनेयी संहिता की विषय-सामग्री को देखने से स्पष्ट होता है कि अन्तिम अध्याय परवर्ती काल के ही हैं। कृष्ण यजुर्वेद का वर्ण्यविषय वाजसनेयी संहिता के पूर्वार्द्ध तक ही सीमित रहता है, जो वाजसनेयी संहिता के अन्तिम अध्यायों का परवर्ती सिद्ध करने का एक पुष्ट प्रमाण है।

कृष्ण यजुर्वेद—कृष्ण यजुर्वेद की वस्तु सामग्री लगभग शुक्ल यजुर्वेद से मिलती-जुलती है, अतः शुक्ल यजुर्वेद के विवेचन से कृष्ण यजुर्वेदीय विषय-सामग्री का आभास मिल जाता है, क्योंकि दोनों में वर्णित अनुष्ठान की विधियाँ भी लगभग समान ही हैं। चरण व्यूह आदि ग्रन्थों में कृष्ण यजुर्वेद की 85 शाखाओं का उल्लेख मिलता है किन्तु आज केवल चार शाखाएँ ही उपलब्ध हैं, उनके नाम क्रमशः (1) तैत्तिरीय शाखा, (2) मैत्रायणी शाखा, (3) कठशाखा, (4) कपिष्ठलकठ शाखा।

तैत्तिरीय शाखा—इस संहिता का दक्षिण में अत्यधिक प्रचार है, सुरक्षित सम्बद्ध साहित्य की दृष्टि से यह शाखा सर्वाधिक सम्पन्न है, क्योंकि इस शाखा ने अपनी संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् श्रौतसूत्र आदि को पूर्णतः सुरक्षित बनाये रखा है। प्रस्तुत संहिता सात काण्ड, चौवालिस प्रपाठक तथा छः सौ इकत्तीस अनुवाकों में विभक्त है। इसमें शुक्ल यजुर्वेद के समान ही राजसूय, वाजपेय, याजमान, पुरोडाश आदि यज्ञों का विशद वर्णन मिलता है।

मैत्रायणी शाखा—कृष्ण यजुर्वेद की यह शाखा गद्य-पद्य उभयात्मक है; इस संहिता में चार काण्ड हैं। पहले काण्ड में ग्यारह प्रपाठक, दूसरे काण्ड में तेरह, तीसरे काण्ड में सोलह तथा चौथे काण्ड में चौदह प्रपाठक हैं। प्रथम प्रपाठक में दर्श, पूर्णमास अध्वर, आधान पुनराधान, चातुर्मास्य तथा वाजपेय यज्ञ का वर्णन है। द्वितीय काण्ड में काव्य दृष्टि, राजसूय आदि का वर्णन है। तृतीय काण्ड में अग्निचिति, अध्वर, विधि सौत्रामणी के अनन्तर अश्वमेघ यज्ञ का विस्तृत वर्णन है। चतुर्थ काण्ड खिल काण्ड के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें राजसूय आदि यज्ञों का वर्णन है। इस सम्पूर्ण संहिता में 2144 मन्त्र हैं, जिनमें से ऋग्वेदीय ऋचाओं की संख्या 1704 है।

कठ संहिता—पतंजलि के भाष्य की “ग्रामे ग्रामे कलापकं काठकं च प्रोच्यते” की पंक्ति से प्राचीन काल में इस शाखा के प्रचार का अनुमान किया जा सकता है। इस संहिता में पांच खण्ड हैं। इस शाखा में चालीस कथानक, एक सौ तेरह अनुवचन, आठ सौ तैतालीस अनुवाक् तथा 3091 मन्त्र हैं। प्रस्तुत शाखा में समग्र रूप से दर्श, पौर्णमास, अग्निष्टोम, अग्नि होत्र, वाजपेय, राजसूय, अग्निचयन, चातुर्मास्य, सौत्रामणी और अश्वमेधादि यज्ञों का वर्णन है।

कपिष्ठल कठ शाखा—कपिष्ठल एक ऋषि-विशेष हैं, जिनका पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी नामक व्याकरण ग्रंथ में “कपिष्ठलो गौत्रं” 4/3/91 सूत्र में स्मरण किया है। दुर्गाचार्य ने भी अपने को ‘अहं च कपिष्ठलो वाशिष्ठं’ कहा है। प्रस्तुत शाखा जीर्ण-शीर्ण रूप से अधूरी उपलब्ध हुई है। यह संहिता काठक संहिता से पर्याप्त भिन्न है, यद्यपि मूल ग्रन्थ काठक शाखा के समान ही है; परन्तु स्वरांकन पद्धति ऋग्वेद से मिलता है। यह ऋग्वेद के समान ही अष्टक तथा अध्यायों में विभक्त है। इस संहिता के प्रथम अष्टक में आठ अध्याय हैं। द्वितीय-तृतीय अष्टक खण्डितावस्था में प्राप्त हुए हैं। चौथे-पांचवे अष्टक में मन्त्र यत्र-तत्र खण्डित ही हैं। प्रस्तुत शाखा जीर्ण-शीर्ण रूप में ही प्राप्त है।

कृष्ण यजुर्वेद की चारों संहिताओं में केवल स्वरूप की ही नहीं अपितु वर्णित विषय-वस्तु में भी पर्याप्त समानता है और यह होना भी चाहिए; क्योंकि विभिन्न शाखाओं का मूलभूत वेद तो एक ही है।

यजुर्वेदीय धार्मिक दृष्टिकोण ऋग्वेद से भिन्न नहीं है, फिर भी इस वेद में देवताओं के स्वरूप में कुछ परिवर्तन मिलता है; उदाहरणार्थ—प्रजापति को जहां ऋग्वेद में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है, वहां इस वेद में उसकी एक प्रधान देवता के रूप में प्रतिष्ठा हो जाती है। इसी प्रकार ऋग्वेद के रुद्र ने यजुर्वेद में शिव, शंकर एवं महादेव का अभिधान ग्रहण कर लिया है। इस वेद में असुरों का प्रयोग भी राक्षसादि के लिए हुआ है। ऋग्वेद की अपेक्षा यजुर्वेद में अप्सराएँ महत्त्व प्राप्त हैं। विष्णु भी ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हो गये हैं। ऋग्वेद में सूर्य पूजा का नाम नहीं है जबकि यजुर्वेद में यह धर्म का प्रधान अंग बन जाता है। ऋग्वेद में देवता ही आराध्य है परन्तु यजुर्वेद में देवता पूजा से दूर याज्ञिक क्रियाकाण्ड में निरत हो जाते हैं।

यजुर्वेद में कुछ आध्यात्मिक पहेलिकाएँ भी उपलब्ध हैं। वाजसनेयी संहिता के तेईसवें अध्याय में ऐसी पहेलिकाओं की एक विशाल संख्या दृष्टिगोचर होती है जो उस काल में धर्म के एक अंग की रचना करती थी। इसमें देवताओं को प्रभावित एवं प्रसन्न करने की उत्कृष्ट भावना के दर्शन होते हैं, जिससे परवर्ती काल में विकसित होकर देवताओं के विविध नामान्तर एवं उपाधि भेद को जन्म दिया है।

प्रो. विन्टरनिट्ज स्वाहा, स्वधा एवं वषट् जैसे तान्त्रिक शब्द प्रयोगों का बुद्धिहीन उच्चारण मानते हैं; परन्तु भारतीय परम्परा में इन शब्दों का विनियोग चिरकाल से विविध एवं विशिष्ट अर्थों में होता आया है, जिसका भारतीय दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति ही वास्तविक मूल्यांकन कर सकता है। मंत्रों में केवल शब्दों का महत्त्व है, अर्थ का नहीं।

यजुर्वेद का साहित्यिक दृष्टि से जो कुछ महत्त्व है, वह तो है ही, किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के निगूढ दार्शनिक तत्त्व एवं उपनिषदों के रहस्य के परिज्ञान के लिए तथा भारतीय धर्मशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से भी वह वेद अत्यधिक

महत्त्वपूर्ण है। जो भारतीय धर्मशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र का अध्ययन करना चाहता है, उसके लिए ये संहिताएं अपरिहार्य हैं। धर्म के इतिहास की परम्परा में यह संहिता एक विशाल इतिहास के अनेक रुचिकर अध्यायों में से एक विशिष्ट प्रकरण कही जा सकती है। यजुर्वेद संहिता के ज्ञान के बिना हम ब्राह्मण ग्रन्थों के उस छिपे हुए दार्शनिक तत्त्व को नहीं समझ सकते और उपनिषदों के ज्ञान के बिना हम भारतीय संस्कृति को नहीं समझ सकते तथा भारतीय संस्कृति के ज्ञान के बिना हम भारतीयता का स्वाभिमान नहीं रख सकते। इस प्रकार यजुर्वेद संहिता भारतीयों के अवान्तर कालीन धार्मिक और दार्शनिक विचार-परम्परा के ज्ञान के लिए आधारशिला कही जा सकती है।

यजुर्वेद संहिता अध्वर्यु पुरोहितों की प्रार्थना पुस्तक है। यजुष् शब्द की व्याख्याएं आपाततः भले ही भिन्न प्रतीत हों; किन्तु वे साधारणतः एक ही लक्षण की ओर उन्मुख हैं। **शेषेयजुः** शब्द का अभिप्राय ही यही है कि ऋक् एवं साम से भिन्न गद्यात्मक मन्त्रों का ही अभिधान यजुर्वेद है। कहा जाता है—“**गद्यात्मको यजुः**” गद्यमय वैदिक रचना यजुर्वेद है। दूसरे शब्दों में, “**अनियताक्षरावसानो यजुः**” नियम व नियमित अक्षरों की स्थिति से रहित यजुर्वेद है अर्थात् गद्य-पद्य मिश्रित रचना ही यजुर्वेद है। यजुर्वेद के विभाजन की दृष्टि से महाभाष्यकार पतंजलि ने यजुर्वेद की एक सौ एक शाखा, “**एकशतमध्वर्युशाखा**” का उल्लेख किया है। स्कन्दपुराण में एक सौ सात शाखाओं का उल्लेख मिलता है। मुक्तिकोपनिषद् में एक सौ नौ शाखाओं का उल्लेख है। शौनक चरण व्यूह में 83 यजुर्वेद की शाखाओं का उल्लेख मिलता है; किन्तु इसमें से अधिकांश नष्ट हो गयी हैं।

यजुर्वेद का एक अन्य विभाजन कृष्ण एवं शुक्ल के नाम से मिलता है। उपर्युक्त यजुर्वेद की 6 शाखाओं में से, (1) मैत्रायणी, (2) तैत्तिरीय, (3) काठक, (4) कपिष्ठल—ये चार कृष्ण यजुर्वेद के अन्तर्गत मानी जाती हैं। (1) वाजसनेयी संहिता एवं (2) कण्व संहिता शुक्ल यजुर्वेद की शाखाएं हैं। प्रश्न यहां पर यह उठता है कि उपर्युक्त कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद के विभाजन एवं अभिधान का आधार क्या है?

अध्ययन करने पर हमारे समक्ष अनेक विद्वानों के मतों के साथ-साथ एक आख्यायिका भी इस विभाजन से सम्बद्ध मिलती है। अन्य कारणों और आधारों के उल्लेख करने से पूर्व हम आख्यायिका का निर्देशन कर देना आवश्यक समझते हैं। प्रस्तुत कहानी साहित्य में अनेक स्थलों पर मिलती है। पुराणों में इसका विशिष्ट रूप में उल्लेख मिलता है। महीधरकृत ‘यजुर्वेद-भाष्य भूमिका’ में भी इसका उल्लेख मिलता है। व्यास के शिष्य वैशम्पायन तथा उनके शिष्य याज्ञवल्क्य थे। एक दिन वैशम्पायन अपने शिष्य याज्ञवल्क्य से क्रुद्ध हो उठे। गुरु ने अपने शिष्य को जो कुछ पढ़ाया है, उसे वमन कर देने को कहा अन्यथा गुरुजी शाप दे देंगे। शाप के भय से भीतयोगी याज्ञवल्क्य ने यजुर्वेद का

वमन कर दिया। गुरु वैशम्पायन के आदेश से उनके अन्य शिष्यों ने तैत्तिरीय का रूप धारण कर उस वान्त यजुष का भक्षण किया; यही उद्धान्त ज्ञान तैत्तिरीय संहिता है। तैत्तिरीय संहिता अपनी सहयोगी, मैत्रायणी कपिष्ठल और काठक से अधिक सम्बद्ध है। ये चारों शाखाएं परस्पर संश्लिष्ट हैं। तैत्तिरीय शाखा का एक नाम आपस्तम्ब शाखा या आपस्तम्ब संहिता भी है। पांचवीं शाखा को वाजसनेयी शाखा कहते हैं, याज्ञवल्क्य ने भी अपने मान और ज्ञान की रक्षा के लिए सूर्यदेव को तपस्या से सन्तुष्ट करके शुक्ल यजुर्वेद को प्राप्त किया। सूर्य ने अश्व का रूप धारण कर योगी को यह ज्ञान दिया था, अतः इस संहिता का नाम वाजसनेयी संहिता प्रसिद्ध हुआ। यही नहीं, यह ज्ञान मध्य दिन में दिया गया था अतः इस संहिता को माध्यन्दिनी शाखा भी कहते हैं तथा सूर्य का प्रकाश पड़ने के कारण शुक्ल नाम पड़ा। दूसरी ओर प्रकाशाभाव होने के कारण कृष्ण नाम हुआ। तित्तिरों ने ज्ञान का भक्षण किया था; अतः वह दूसरी संहिता तैत्तिरीय कहलायी।

वेद के दो सम्प्रदाय प्रसिद्ध थे—(1) ब्रह्म सम्प्रदाय (2) आदित्य सम्प्रदाय। शतपथ ब्राह्मण में आदित्य सम्प्रदाय शुक्ल यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध है तथा आदित्य सम्प्रदाय का प्रतिनिधि यजुर्वेद है। ब्रह्म सम्प्रदाय का प्रतिनिधि कृष्ण यजुर्वेद है; यह शुक्ल कृष्णत्व विभेद मूलतः यजुर्वेद के स्वरूपाधीन है। यजुर्वेद की विषय-वस्तु का विश्लेषण करने पर हम उसमें दर्श, पौर्णमासादि अनुष्ठान एवं यज्ञ आदि के लिए आवश्यक मन्त्रों का ही संकलन पाते हैं। यज्ञ एक शुभ कर्म है, शुभ वस्तुओं के लिए पवित्र वर्ण श्वेत का अभिधान यत्र-तत्र मिलता है, अतः इस संहिता का नाम शुक्ल यजुर्वेद है। इस यजुर्वेद में ऋचाओं का व्यवस्थित संकलन है, इसलिए भी इसे शुक्ल अभिधान प्राप्त है। इस संहिता में ब्राह्मणात्मक गद्य का सर्वथा अभाव है अर्थात् विषय के स्पष्टीकरण के लिए गद्यभाग का इसमें अभाव है। दूसरी ओर कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ तन्नियोजक ब्राह्मणों का भी सम्मिश्रण है अर्थात् मन्त्र एवं ब्राह्मण भाग का एकत्र मिश्रण ही कृष्ण-यजु के कृष्ण अभिधान का कारण है। इस प्रकार इस संहिता में गद्य-पद्य मन्त्र एवं ब्राह्मण दोनों का मिश्रण है।

श्री मेकडानल (Macdonell) महोदय ने लिखा है कि कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद का भेद इसलिए है कि शुक्ल यजुर्वेद स्पष्ट है, विषय की दृष्टि से निर्मल है, पाठक की बुद्धि को चमत्कृत कर आकर्षित करता है; फलतः वह शुक्ल यजुर्वेद के नाम से अभिहित किया जाता है; किन्तु इसके विपरीत कृष्ण यजुर्वेद विषय सांकर्य, गद्य-पद्य तथा मन्त्र ब्राह्मण की उभयात्मक प्रवृत्ति के कारण पाठक की बुद्धि को व्यमोहित कर उसे कुण्ठित बना देता है; अतः वह कृष्ण यजुर्वेद है।

डॉ. मंगलदेवजी ने इस विषय पर एक अपना विशिष्ट मत दिया है, वह भी विशेष रूप से दर्शनीय है—

“हमारे मत में एक और कारण भी हो सकता है। कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं का विस्तार प्रायेण दक्षिण भारत में और शुक्ल यजुर्वेद का उत्तर भारत तथा मनु के आर्यावर्त्त में है। स्वभावतः कृष्ण यजुर्वेद के साहित्य पर जितना प्रभाव वैदिकेतर धारा का है, उतना शुक्ल यजुर्वेदीय साहित्य पर नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण यजुर्वेद की उक्त प्रवृत्ति के विरोध में ‘शुद्ध’ वैदिक धारा के पक्षपात या अभिनिवेश के कारण ही शुक्ल यजुर्वेद का प्रारम्भ हुआ होगा, बहुत कुछ उसी तरह जिस तरह वर्तमान काल में समन्वयात्मक पौराणिक धर्म के विरोध में आर्यसमाज का प्रारम्भ हुआ। शुद्ध धारा के कारण ही कदाचित् ‘शुक्ल’ और ‘कृष्ण’ का प्रचलन होने लगा।” वैदिकेतर धारा को अधिक स्पष्ट करने के लिए डॉक्टर साहब एक मन्त्र का उद्धरण भी देते हैं, वह इस प्रकार है—

गिरिसुताय धीमहि । तन्नो गौरी प्रचोदयात् ।

तत्कुमाराय विद्महे कार्तिकेयाय धीमहि ।

तन्नः स्कन्दः प्रचोदयात् ।।

(मैत्रायणी संहिता 2/9/1 तथा काठक संहिता 17/11)

यहां कार्तिकेय, स्कन्द और गौरी—इन पौराणिक देवी-देवों का उल्लेख स्पष्टतः वैदिकेतर धारा के प्रभाव का द्योतक है।

यज्ञ का महत्त्व

वैदिक धर्म में यज्ञों को जो महत्त्व प्राप्त है, वह अन्य किसी कार्य को नहीं। वेदों की पूर्णतः प्रवृत्ति एवं उनका अवसान यज्ञों में जाकर ही होता है। यही कारण है कि यहां के प्रत्येक सुखद एवं दुःखद कार्य में वेदों की ऋचाओं के माध्यम से यज्ञ अवश्य ही किया जाता है। भारतीय संस्कृति में गर्भाधान संस्कार से लेकर अन्त्येष्टि संस्कार तक के सभी कार्यों में यज्ञों का आवश्यक विधान है। यहां किसी भी प्रकार का प्रसन्नतादायक समारोह, उत्सव आदि कुछ भी हो, उसमें यज्ञ का होना परमावश्यक समझा जाता था। इसीलिए यहां के जीवन में कर्मकाण्ड एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जहां तक यज्ञ का प्रश्न है प्रत्येक वेद में यज्ञ का महत्त्व स्वीकार किया गया है। अथर्ववेद में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में यज्ञ को विश्व की नाभि कहा गया—“अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।” ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में लिखा है—संसार की उत्पत्ति ही यज्ञ से हुई है, वही संसार का प्रथम धर्म भी था—“यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा तानि धर्माणि प्रथमान्यासन।।” यजुर्वेद में भी सर्वश्रेष्ठ कर्म यज्ञ को माना है, यज्ञ को ही प्रजापति व विष्णु माना है। “यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म प्रजापतिवै यज्ञः, विष्णु वै यज्ञः।” आशय यही है कि वैदिक धर्म एवं वैदिक संस्कृति में यज्ञ का प्रमुख स्थान है।

आचार्य सायण ही नहीं अपितु अन्य सभी वैदिक आचार्यों ने वेद का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय यज्ञ को माना है। सायण ने तो इसी कारण वेदों का अर्थ ही कर्मकाण्डपरक दिया है। याज्ञिक क्रियाओं के सुव्यवस्थित सम्पादन के लिए

ही ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व संहिताओं का संकलन हुआ है। वैदिक यज्ञों में होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा—ये चार ऋत्विज प्रमुख रूप से होते हैं। यज्ञ के अवसर पर देवता-विशेष की प्रशंसा में मन्त्रों का सविधि उच्चारण करते हुए देवता का आह्वान करने वाला होता नामक ऋत्विज होता है। होता के लिए अभीष्ट मन्त्रों का संकलन ऋग्वेद में है। यजुर्वेद संहिता का संकलन अध्वर्यु नामक ऋत्विज के प्रयोग के लिए हुआ है। अध्वर्यु का कार्य है—यज्ञों को विधिवत् सम्पादित करना। सामवेद संहिता का संकलन उद्गाता नामक ऋत्विज के लिए हुआ है। उद्गाता का कार्य है कि वह यज्ञों में आवश्यक मन्त्रों को स्वर सहित उच्च गति से गान करे। यज्ञ में होने वाले विघ्नों के निवारण के लिए अथर्वसंहिता का निर्माण हुआ है। इस संहिता के मन्त्र यज्ञ संरक्षक ब्रह्मा नामक ऋत्विज के लिए हैं। विशेषतः ब्रह्मा नामक ऋत्विज का कार्य यज्ञ का निरीक्षण करना है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि वैदिक संहिता का प्रमुख विषय यज्ञ एवं कर्मकाण्ड ही है। तथापि एक बात विशेष रूप से स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के मन्त्रों के संग्रह का उद्देश्य केवल कर्मकाण्ड ही न था अपितु उनके पीछे साहित्यिक सौन्दर्य व अन्य तत्त्व भी थे; परन्तु साम तथा यजुर्वेद में मन्त्रों का संग्रह व्यावहारिक दृष्टि से ही किया गया था जिनमें यज्ञ एवं कर्मकाण्ड का प्राधान्य था। इसीलिए कर्मकाण्ड का विशिष्ट प्रतिपादन यजुर्वेद में हुआ है।

यदि हम यजुर्वेद की विषय-सामग्री का परीक्षण करें तो हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि वह केवल यज्ञ एवं कर्मकाण्ड की गाथा का ही गायक है। यजुर्वेद का शुक्ल भाग तो कर्मकाण्ड का मानो आगार है।

यजुर्वेदीय अन्य शाखाओं में भी यज्ञों का विस्तार से वर्णन है। शुक्ल यजुर्वेद के अध्ययन से कृष्ण यजुर्वेद की विषय-सामग्री का अधिकांश परिचय मिल जाता है। इसका आशय यही है कि कृष्ण यजुर्वेद में भी शुक्ल यजुर्वेद की तरह ही यज्ञों का, वैदिक कर्मकाण्ड का सर्वांगीण विवेचन है। कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखा में शुक्ल यजुर्वेद के समान ही पुरोडाश, यजमान, वाजपेय राजसूय आदि अनेक यज्ञानुष्ठानों की विधियाँ हैं। इसी प्रकार मैत्रायणी संहिता में भी दर्श पूर्णमास, अध्वर, आधान, पुनराधान, चातुर्मास्य तथा वाजपेय यज्ञों का वर्णन है। कंठ संहिता की भी विषय-सामग्री कर्मकाण्डीय ही है जिनमें पुरोडाश, अध्वर, वाजपेय राजसूय, प्रायश्चित्त, सौत्रामणि, काम्य, इष्टि, अग्निचयन अश्वमेध आदि यज्ञों का वर्णन है। शुक्ल एवं कृष्ण यजुर्वेद कर्मकाण्डीय विषय-सामग्री का उपास्थापन करने के कारण कर्मकाण्डपरक वेद हैं। इस वेद में केवल यज्ञ ही नहीं, यज्ञ की वेदी, पात्र, आसन, समिधा, हविष्य आदि उपकरणों का भी सर्वांगीण विवरण मिलता है। वस्तुतः यह कर्मकाण्डीय वेद हैं। इसीलिए डॉ. मंगलदेवजी ने भारतीय संस्कृति का विकास नामक ग्रन्थ में लिखा है कि ऋग्वेद संहिता के विपरीत यजुर्वेद संहिता का क्रम विशिष्ट याज्ञिक कर्मकाण्ड के क्रम को लक्ष्य में रखकर ही निर्धारित किया गया है।

अन्त में हम यही कह सकते हैं कि वैदिक ऋषियों ने भारतीय धर्मप्राण जनता के लिए कर्मकाण्ड एवं यज्ञ को आवश्यक एवं अपरिहार्य कर्तव्य माना था; इसीलिए उन यज्ञों को व्यवस्थित रूप में सम्पादन के लिए वैदिक संहिताओं का सृजन किया था। चारों वैदिक संहिताओं में यद्यपि कर्मकाण्डीय तत्त्वों का सन्निवेश है; किन्तु प्राधान्येन यजुर्वेद संहिता में विशद् विवेचन किया गया है। वैदिक संहिताओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान इसी संहिता को दिया गया है। डॉ. मंगलदेव जी ने लिखा है कि "समस्त वैदिक साहित्य में यजुर्वेद अपना विशिष्ट स्थान रखता है। मनुष्य जीवन के विकास की ज्ञान, कर्म और उपासना तीन सीढ़ियां हैं। इनमें कर्म की सीढ़ी या कर्मकाण्ड का प्रतिपादन विशेषतः यजुर्वेद ही करता है। यद्यपि वैदिक कर्मकाण्ड में अन्य वेद भी अपना-अपना स्थान रखते हैं, तो भी उसका प्रधान आधार यजुर्वेद ही कहा जा सकता है।

सामवेद

वैदिक संहिताओं में सामवेद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वृहद्देवता का तो यहां तक कहना है कि जो व्यक्ति साम को जानता है वही वेद रहस्य का ज्ञाता हो सकता है, "सामानि यो वेत्ति स वेद तत्वम्।" गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी स्वयं ही कहा—'वेदानां सामवेदोऽहमस्मि'" गीता के कथन से भी सामवेद की महत्ता का संकेत होता है। आशय यह है कि वेदों में सामवेद का महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा सामगायन परम्परा अर्वाचीन न होकर प्राचीनतम है।

साहित्य में 'साम' शब्द का अर्थ दो रूपों में मिलता है। एक तो ऋचाओं के ऊपर गाये जाने वाले गान साम शब्द से अभिहित किये जाते हैं और कभी-कभी ऋग्वेद के मन्त्रों के लिए भी साम शब्द का प्रयोग किया जाता है। सामवेद का संकलन उद्गाता नामक ऋत्विज् की आवश्यकताओं के लिए किया गया है। सामवेद के मन्त्रों को उद्गाता तारस्वर से आवश्यकतानुसार गान करता है। निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि साम शब्द से हमें उन गानों को ग्रहण करना चाहिए जो ऋचाओं पर भिन्न-भिन्न स्वरों में गाये जाते हैं।

भारतीय विद्वानों के अनुसार सामवेद की कभी एक सहस्र शाखाएं रही हैं। पुराण भी सामवेद की एक सहस्र शाखाओं का उल्लेख करते हैं। पतंजलि का "सहस्रवर्त्मा सामवेद" वाक्य सुपरिचित ही है। महर्षि शौनक ने चरण व्यूह परिशिष्ट में इस विषय का निर्देश करते हुए लिखा है कि सामवेद के 1000 भेद होते हैं, जिनमें से अनेक अनध्याय के समय पढ़े जाने के कारण इन्द्र के द्वारा अपने वज्र-प्रहार से नष्ट कर दिये गए "सामवेदस्य किल सहस्र भेदाः भवन्ति एष अनध्यायेषु अधीयानः ते शतक्रतु वज्रैणाभिहतो।" वर्तमान में केवल तीन आचार्यों की तीन शाखाएँ ही प्राप्त होती हैं—(1) कौथुमीय, (2) राणायनीय, (3) जैमिनीय। वैसे तो पुराणों में उत्तर-पूर्व के प्रदेशों को सामगान का स्थान बताया गया है; किन्तु व्यवहारतः आज ठीक इसके विपरीत दक्षिण तथा पश्चिम भारत में इन शाखाओं का प्रचुर प्रचार है।

कौथुम शाखा इन तीनों शाखाओं में सर्वाधिक उपादेय एवं प्रसिद्ध है। इस शाखा के दो भाग हैं—

(1) पूर्वार्चिक, (2) उत्तरार्चिक। इन दोनों भागों में केवल उन्हीं ऋचाओं का वर्णन किया गया है जो ऋग्वेद में उपलब्ध होती हैं। दोनों भागों की समस्त ऋचाएँ 1810 हैं। इनमें से कुछ की पौनः-पुन्येन आवृत्ति हुई है। इस प्रकार की ऋचाओं को पृथक् करने पर मौलिक ऋचाओं की संख्या 1549 शेष रह जाती है और इनमें से 75 को छोड़कर समस्त ऋचाएँ ऋग्वेद संहिता के अष्टम एवं नवम मण्डल से ली गई हैं। प्रस्तुत ऋचाओं की रचना अधिकांशतः गायत्री एवं गायत्री जगती मिश्रित छन्द में हुई है। इसीलिए सामवेद में प्राप्त ऋग्वेदीय मन्त्रों का

उच्चारण भी कुछ भिन्न हो गया है। इस वेद का मुख्य वस्तु स्वर है जो कि उद्गाता नामक ऋत्विज के लिए आवश्यक तत्त्व है।

सामवेद संहिता के पूर्वार्चिक में 650 ऋचाएँ (गीत) हैं, जिनमें याज्ञिक अवसर पर प्रयुक्त होने वाले विभिन्न साम संगृहीत हैं। साम शब्द का वास्तविक अर्थ स्वर या गीत है; किन्तु ऋक् मन्त्रों के ऊपर गाए जाने वाले गीत ही वस्तुतः साम शब्द के द्वारा अभिहित होते हैं। पूर्वार्चिक के प्रथम प्रपाठक में अग्नि विषयक ऋक् मन्त्रों का संग्रह है; अतः इसे आग्नेय काण्ड कहते हैं। द्वितीय से चतुर्थ प्रपाठक तक ऐन्द्र पर्व कहलाता है, क्योंकि यहां इन्द्र की स्तुतियां हैं। पंचम में सोमपरक स्तुतियां हैं; अतः इसे पवमान पर्व कहा जाता है। षष्ठ प्रपाठक आरण्यक पर्व के नाम से प्रसिद्ध है।

सामवेद संहिता के उत्तरार्चिक में 400 गीत (Chants) हैं। इन गीतों में से प्रत्येक गीत में प्रायः तीन-तीन ऋचाएँ हैं। कहीं-कहीं दो-दो या चार-चार ऋचाएँ भी मिलती हैं। इन्हीं गीतों से यज्ञों के अवसर पर गाये जाने वाले स्तोत्रों का निर्माण हुआ है। जहां पूर्वार्चिक में ऋचाओं का क्रम छन्द एवं देवताओं के आधार पर हुआ है वहां उत्तरार्चिक में यज्ञों के आधार पर उनका क्रम निर्धारित हुआ है। उत्तरार्चिक में 9 प्रपाठक हैं; आदि के 5 प्रपाठकों में दो-दो अध्याय हैं; किन्तु प्रपाठकों में तीन-तीन अध्याय हैं। इनमें छोटे-छोटे मन्त्र समूह पाये जाते हैं। इस उत्तरार्चिक का साहित्यिक महत्त्व पूर्वार्चिक की अपेक्षा कम है; क्योंकि इसके अधिकांश मन्त्र प्रथम आर्चिक की पुनरावृत्ति मात्र है। इसके अतिरिक्त पूर्वार्चिक में इस प्रकार की अनेक योनि (ऋचाएँ), ताल एवं लय हैं जो उत्तरार्चिक में प्राप्त नहीं होते, फिर उत्तरार्चिक को पूर्वार्चिक का परिष्कृत रूप भी माना जा सकता है। उत्तरार्चिक के समस्त मन्त्रों की संख्या 1225 है।

पूर्वार्चिक के बाद में ही उत्तरार्चिक की रचना हुई है; क्योंकि आर्चिक में अनेक ऋचाएँ एवं स्वर हैं जो कि उत्तरार्चिक के (Chants) में नहीं हैं तथा उत्तरार्चिक में कुछ स्तोत्र ऐसे भी हैं जिनके स्वर के विषय में आर्चिक शिक्षा नहीं देता।

वास्तव में "गौतिषु सामाख्या" इस जैमिनी वाक्य के अनुसार गीति ही साम है; और गीति के प्राण हैं स्वर, गीतों का प्रणयन भी सामवेद की ऋचाओं पर आधारित था। सामगान के पांच भाग हैं—

- (1) प्रस्ताव—इसका गान प्रस्तोता करता है।
- (2) उद्गीथ—इसका गान उद्गाता नामक ऋत्विज् करता है।
- (3) प्रतिहार—इसका गान प्रतिहार नामक ऋत्विज् करता है।
- (4) उपद्रव—इसका गान भी उद्गाता नामक ऋत्विज् करता है।
- (5) निधन—इसका गान प्रस्तोता; उद्गाता एवं प्रतिहर्ता नामक तीनों ऋत्विज मिलकर करते हैं।

सामवेद संहिता में स्वरों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वर उच्चारण की दृष्टि से उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित तीन प्रकार के हैं और संगीत की दृष्टि से सात प्रकार के हैं; उनके नाम इस प्रकार हैं—मध्यम, गान्धार ऋषभ, षड्ज, निषाद, धैवत एवं पंचम। इस संहिता में गेय पदों के ऊपर एक दो-तीन आदि से सात तक के अंकों द्वारा संगीत के स्वरों का निर्देशन किया जाता है।

पूर्वार्चिक में प्रथम से पांचवे अध्याय तक की ऋचाएं ग्राम गान हैं और षष्ठ अध्याय की ऋचाएं अरण्य गान कही जाती हैं। इसके अतिरिक्त 'ऊहगान' एवं 'ऊह्य गान' नामक दो अन्य प्रकार के गीत भी उपलब्ध होते हैं। इनमें ऊहगान का सम्बन्ध ग्राम गेय गान से है और ऊह्य गान का सम्बन्ध अरण्य गेय गान से है। विकृत एवं रहस्यात्मक होने से इन दोनों का अरण्य में ही गान होता है। ऋचाओं के आधार पर जिन गीतियों (गानों) की रचना हुई थी, कौथुमीय एवं राणायनीय शाखाओं के अनुसार उनकी संख्या 2722 है एवं जैमिनीय शाखा के अनुसार 3681 है।

राणायनीय शाखा—प्रस्तुत शाखा कौथुम शाखा से अधिक भिन्न नहीं है। मन्त्र प्रायः कौथुम शाखा के ही समान हैं। हाँ, उच्चारण-भेद अवश्य है।

जैमिनीय शाखा—इस शाखा में कुल मन्त्रों की संख्या 1687 है। कौथुम शाखा में साम गानों की संख्या 2782 है जबकि जैमिनीय शाखा में 3681 है। जैमिनीय शाखा के ब्राह्मण उपनिषद् स्रोत-गुह्य सूत्र आदि सभी सम्बद्ध ग्रन्थ आज मिल जाते हैं। जैमिनीय शाखा की एक प्रशाखा तवलकार भी है; जिसकी उपनिषद् केनोपनिषद् है, उसे तवलकारोपनिषद् भी कहा जाता है। ये तवलकार जैमिनीय के शिष्य थे, ऐसा कहा जाता है।

निष्कर्ष रूप में इस संहिता का मूल्यांकन करते हुए हम यह कह सकते हैं कि सामवेद संहिता यज्ञ तथा इन्द्रजाल जादू की दृष्टि से भारतीय इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। संगीत की दृष्टि से गीति तत्त्व का उद्गम स्थान ही है; परन्तु साहित्यिक दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

अथर्ववेद

भारतीय विश्वास के अनुरूप वर्तमान जीवन को सुखमय बनाने के लिए जिन उपकरणों की आवश्यकता होती है, उन सभी की सिद्धि के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों का विधान अथर्ववेद में है। अथर्ववेद की रचना ब्रह्मा नामक यज्ञ के ऋत्विज के लिए हुई है। ब्रह्मा का प्रधान कार्य यज्ञ के अनेक विधानों का निरीक्षण तथा संभावित भूलों का परिमार्जन करना है। ऐतरेय ब्राह्मण का भी कहना है कि वचनों के द्वारा वेदत्रयी यज्ञ के एक पक्ष को संस्कृत करती है तो दूसरे पक्ष का संस्कार मन से ब्रह्म करता है। आशय यही है कि यज्ञ के सर्वांगीण संस्कार के लिए ही अथर्ववेद की रचना हुई है। पुरोहित को राज्य में सामाजिक, राजनैतिक शान्ति के लिए अथर्ववेद की जानकारी आवश्यक है।

अथर्ववेद का अर्थ है, अथर्वों का वेद अथवा अभिचार मन्त्रों का ज्ञान (The knowledge of magic formulae)। प्राचीन समय में अथर्वन् शब्द से पुरोहित का बोध होता था। प्रोफेसर विण्टरनिट्ज के अनुसार अथर्वन् शब्द इण्डो-ईरानियन काल से भी पूर्ववर्ती है, क्योंकि अवेस्ता के अथर्वन् अथवा अग्निपूजक भी भारतीय अथर्वन् ऋषियों के समकक्ष ही हैं। इन भारतीय प्राचीन पुरोहितों को कुछ समय बाद अभिचार का पुरोहित कहा जाने लगा था। अथर्ववेद के उपलब्ध अनेक नामों में अथर्ववेद, ब्रह्मवेद, अंगिनोवेद, अथर्वांगिरस वेद आदि नाम मुख्य हैं, किन्तु इनमें प्राचीनतम नाम अथर्वांगिरस है, जिसका अर्थ अथर्वों और अंगिराओं का वेद। इस वेद के अनेक मन्त्र अथर्वण तथा अंगिरस ऋषियों के द्वारा देखे गए थे। इसीलिए इस वेद को अथर्वांगिरस कहते हैं। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में अथर्वण में रोग नाशक, सुखोत्पादक मन्त्र हैं जबकि अंगिरस में अभिचार—मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण से सम्बद्ध मन्त्र संगृहीत हैं। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि अथर्ववेद में रोग निवारक, शत्रु विनाशक अभिचार मन्त्र का वर्णन है।

पतंजलि ने अपने महाभाष्य के पस्पशान्हिक में “नवधाऽथर्वणोवेद” लिखकर अथर्ववेद की नौ शाखाओं का उल्लेख किया है। किन्तु आज इन नौ शाखाओं में से केवल दो शाखाएँ ही प्राप्त होती हैं, जिनके नाम हैं—(1) शौनक, (2) पिप्लाद। इस वेद की शौनक शाखा में बीस काण्ड, सात सौ तीस सूक्त तथा 6 हजार के लगभग मन्त्र हैं। इन मन्त्रों में से लगभग 1800 मन्त्र ऋग्वेद संहिता के हैं। यद्यपि पाठान्तर कहीं-कहीं मिल जाता है; किन्तु ऋग्वेदीय मन्त्रों का ज्ञान हमें हो ही जाता है, क्योंकि अथर्ववेद का बीसवाँ काण्ड कुछ ही अंशों को छोड़कर पूर्णतः ऋग्वेद के मन्त्रों से निर्मित है। इस संहिता का 18वाँ एवं 19वाँ काण्ड परवर्ती कहा जाता है। यदि हम कहें कि अथर्ववेद का अंश ऋग्वेद से गृहीत है तो अनुपयुक्त न होगा। यही नहीं, अथर्ववेद की आधी ऋचाएँ ऋग्वेद की ऋचाओं से मिलती-जुलती हैं। ऋग्वेद से ली हुई ऋचाएँ पहले, आठवें और

दशवें मण्डल की हैं। अथर्ववेद के प्रथम सात काण्डों में छोटे-छोटे सूक्त मिलते हैं। द्वितीय काण्ड में प्रत्येक सूक्त में नियमतः चार-चार ऋचाएं मिलती हैं। द्वितीय काण्ड के प्रत्येक सूक्त में 5, तृतीय में 6-6, चतुर्थ में 7-7 ऋचाएं मिलती हैं। पांचवे काण्ड के सूक्तों में कम से कम आठ और अधिकतः 18 ऋचाएं मिलती हैं। छठे काण्ड में 142 सूक्त हैं, जिनके प्रत्येक सूक्त में कम से कम तीन-तीन ऋचाएं हैं। सातवें काण्ड में 118 सूक्त हैं, जिनमें अधिकांश सूक्त एक-एक, दो-दो ऋचाओं वाले हैं। आठवें काण्ड से लेकर चौदहवें काण्ड तक तथा सत्रहवें और अठारहवें काण्ड में बड़े-बड़े सूक्त हैं, जिनमें सबसे छोटे सूक्त में 21 ऋचाएं तथा सबसे बड़े सूक्त में 89 ऋचाएं। 15वां एवं 16वां काण्ड ब्राह्मण ग्रन्थों की भांति गद्यमय है। उपर्युक्त निर्दिष्ट सूक्तों के क्रम निर्धारण में एक विशेषता यह है कि समान विषयक सूक्तों की योजना आस-पास की गई है। इन सूक्तों को हम तीन वर्गों में विषय-वस्तु के आधार पर रख सकते हैं।

प्रथम वर्ग—इस काण्ड से लेकर 7वें काण्ड तक विभिन्न विषयों के छोटे-छोटे सूक्त हैं।

द्वितीय वर्ग—आठवें काण्ड से लेकर 12वें काण्ड तक—इसमें विभिन्न विषयों के बड़े-बड़े सूक्त हैं। इन्हीं में से 12वें काण्ड के आरम्भ में पृथ्वी सूक्त है, जिसमें राजनीतिक तथा भौगोलिक भव्य-भावना का अंकन है।

तृतीय वर्ग—तेरहवें काण्ड से अठारहवें काण्ड तक इस वर्ग में विषय की एकता परिलक्षित होती है। तेरहवां काण्ड आध्यात्म भावना से भरा हुआ है। चौदहवें काण्ड में केवल दो लम्बे सूक्त हैं, जिनमें विवाह-संस्कार का प्राधान्य वर्णन है। पन्द्रहवां काण्ड व्रात्यकाण्ड है, जिनमें व्रात्य के यज्ञ सम्पादन का आध्यात्मिक वर्णन है। सोलहवां काण्ड दुःस्वप्न नाशक नामक मन्त्रों का सुन्दरतम संग्रह है। सत्रहवें काण्ड का अन्यतम सूक्त अभ्युदय के लिए भव्य प्रार्थना से भरा हुआ है। अठारहवां काण्ड श्राद्धकाण्ड है, जिसमें पितृमेध यज्ञ सम्बन्धी मन्त्रों का सुन्दरतम संग्रह है। अन्तिम दो काण्ड तीनों वर्गों में नहीं आते हैं इसीलिए वे खिलकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। कहा तो यहां तक जाता है कि वे मूलग्रंथ रचना के उपरान्त जोड़े गये हैं। 19वें काण्ड में 72 सूक्त तथा 453 मन्त्र हैं। इनमें भेषज्य, राष्ट्रवृद्धि तथा आध्यात्म विषयक मन्त्र हैं। अन्तिम 20वें काण्ड में मन्त्र संख्या 998 है, जो कि विशेषतः सोमयाग-परक हैं तथा ऋग्वेद से गृहीत हैं।

अथर्ववेद की विषय-सामग्री का यदि हम समष्टि-दृष्टि से विवेचन करें तो कह सकते हैं कि अथर्ववेद में चित्रित संस्कृति मानव समाज के उदय काल से सम्बन्ध रखती है, जिसमें तत्कालीन मानवीय भावनाएँ, क्रियाएँ, अनुष्ठान तथा विश्वासों का समग्र चित्रण विद्यमान है। इस वेद की शत्रु विजय, रोग-निवारण, भूत-प्रेत विनाश, जादू-टोना आदि से सम्बद्ध समस्त भावभूमि अपनी समता नहीं रखती है। अनेकानेक बीमारियों को दूर करने वाले मन्त्रों को देख कर तो हम इसे आयुर्वेद का प्राचीनतम ग्रन्थ भी कह सकते हैं।

अथर्ववेद की समग्र विषय-सामग्री को हम तीन विशिष्ट वर्गों में रख सकते हैं—(1) अध्यात्म विषयक सामग्री—इसमें ब्रह्म, परमात्मा एवं चतुराश्रम एवं वर्णों का विवेचन लिया जा सकता है। (2) अधिभूत प्रकरण में राजा, राज्यशासन, संग्राम, शत्रुवाहन आदि विषयों को ले सकते हैं। (3) अधिदैवत वर्ग में अनेक देवता, यज्ञ तथा काल आदि के विषय की सामग्री रख सकते हैं। विशेषतः इस वेद में आयुर्वेदीय मन्त्र हैं, जिन्हें **भैषज्यानि** सूक्त कहते हैं। दूसरे दीर्घ आयु की कामना-विषयक मन्त्र हैं, जिन्हें **आयुस्यानि** सूक्त कहा जाता है। तीसरे प्रकार के वे मन्त्र हैं, जिनमें हल, कृषि आदि से सम्बद्ध भावनाएँ हैं, उन्हें **पौष्टिकानि** सूक्त कहा जाता है। चौथे प्रकार के वे मन्त्र हैं, जिनमें प्रायश्चित्तादि का विचार किया गया है। पांचवे प्रकार के विवाह एवं प्रेम-विषयक मन्त्र हैं। राजाओं से सम्बद्ध मन्त्रों को **राजकर्माणि** कहा गया है। वे भी इस वेद में पर्याप्त हैं। पृथ्वी का मनोरम वर्णन एवं उदात्त भावनाएं भूमि सूक्त में तथा आत्मा-परमात्मा एवं दार्शनिक विचारों को **ब्रह्मण्यानि** सूक्तों के अन्तर्गत समाहित किया गया है। अनेक स्फुट विषयों पर भी अनेक सूक्त मिल जाते हैं।

भैषज्यानि सूक्त—अथर्ववेद के लिए बहुत बड़े अंश में रोगों की चिकित्सा से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र हैं। ये मन्त्र रोग को देवता मानकर अथवा रोग के कारणभूत असुरों को लक्ष्य करके कहे गये हैं। आज भी जन-सामान्य की आस्थाओं में असुरों का प्रभाव रोगों पर स्वीकार किया जाता है। कुछ मन्त्र औषधि की, कुछ औषधिलता की और कुछ जल की प्रशंसा करते हैं। कौशिक सूत्र में मन्त्रों की सहायता से किए जाने वाले जादू-टोनों का विशेष वर्णन है। रोगों के लक्षण तथा उनके कारण उत्पन्न शारीरिक विकारों का विशद् वर्णन यहां पर मिलता है। अतः ये औषधिशस्त्र के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ज्वर के विषय में अनेक मन्त्र दिये गए हैं। इनमें तकम (Takmon) नामक ज्वर को असुर के समान वर्णित किया है। यह ज्वर मनुष्यों को पीला बना देता है तथा आग के समान तीव्र ज्वाला से लोगों को भस्मीभूत कर देता है। इसीलिए तन्त्रों में ज्वर से प्रार्थना की गई है कि वह कहीं अन्यत्र गायब हो जाए। अच्छा हो कि वह मूंजवत् वहिनक तथा महावृष नामक सुदूर प्रान्तों में चला जाए। इसी प्रकार कास, गंडमाला, यक्ष्मा, दन्तपीड़ा आदि रोगों तथा उनकी औषधि का वर्णन सुन्दर चित्रोपम भाषा में किया गया है। ये अंश गीतिकाव्य की दृष्टि से सुन्दरतम हैं। डॉक्टर विन्टरनिट्ज अथर्ववेद में उल्लिखित भावनाओं की तुलना जर्मन के जादू के गीतों से करते हैं। वे केवल गीतों में ही साम्य प्रतिपादित नहीं करते हैं, अपितु विभिन्न कीटाणुओं, रोगों के कारण पिशाच एवं राक्षसों के विचारों में भी समता प्रतिपादित करते हैं। भारत में जिन्हें गन्धर्व व अप्सरा कहा गया है, वे जर्मन में Spirits and Ewes and Fairies हैं। नदी व वन उनके घर हैं। अथर्व की तरह जर्मन गीतों में भी इन्हें घर छोड़कर पेड़ व नदी पर रहने के लिए बाध्य किया जाता था। अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों में कीटाणुओं का सर्वांगीण विवेचन है जो कि हमारी अन्तड़ी, सिर, पसली, आंख, नाक, कान, दांतों के

संधिस्थल, पर्वतों, जंगलों, पेड़-पौधों, जानवरों के शरीरों, जल आदि में रहते हैं। अथर्व में रोगों की संख्या 99 तक बताई गई है। आशय यह है कि अथर्ववेद में आयुर्वेद विषयक पर्याप्त विषय-सामग्री है।

आयुष्य सूक्त—अथर्ववेद में स्वास्थ्य एवं दीर्घ जीवन सम्बन्धी प्रार्थनाओं को आयुष्य सूक्त कहा गया है। आयुष्य सूक्त में प्राप्त होने वाले मन्त्रों का प्रयोग विशेषतः पारिवारिक उत्सवों में किया जाता है। जैसे शिशु के मुण्डन के समय; युवक के प्रथम क्षौरकर्म के समय; यज्ञोपवीत के समय। इन सूक्तों में सौ शरद ऋतु पर्यन्त जीने के लिए, अनेक रोगों से मुक्ति के लिए पुनः प्रार्थनाएं की गई हैं।

पौष्टिक सूक्त—पौष्टिक सूक्तों में गड़रिए, कृषक, व्यापारी अपनी-अपनी समृद्धि के लिए प्रार्थनाएं करते हैं। यही नहीं, इन सूक्तों में मकान बनाने के लिए, हल जोतने के लिए, बोन के लिए, शस्य की उत्पत्ति एवं वृद्धि के लिए, कीड़ों के नाश के लिए मन्त्र हैं तथा इसी प्रकार के अन्यान्य मन्त्र यहां पर मिलते हैं। इन सूक्तों में काव्यात्मकता की दृष्टि से वर्षागीत सुन्दरतम हैं।

शृंगार सूक्त—इन्हें प्रसाद भी कहा जाता है जो कि अथर्ववेद के चतुर्थकाण्ड में 23वें सूक्त से 29वें तक सात अग्नि, इन्द्र, वायु, सविता, द्यावा, पृथ्वी, मरुत, भव और शर्व, मित्र और वरुण देवों को लक्ष्य कर कथित है। सूक्तों में प्रसन्नता, आशीर्वाद, भय से सुरक्षा तथा बुराई से बचने के लिए प्रार्थनाएं हैं।

प्रायश्चित सूक्त—इन सूक्तों में प्रायश्चित का विधान तथा विभिन्न अपराधों के निवारक मन्त्र भी हैं। विशेषतः इनमें पाप के लिए ही नहीं अपितु यज्ञ तथा उत्सवों में गलती हो जाने पर प्रायश्चित का विधान है। जाने या अनजाने का स्वीकार किया हुआ पाप, मानसिक पाप, ऋण न देना विशेषतः द्युत ऋण का न देना, नियम विरुद्ध विवाह आदि के लिए भी प्रायश्चित है। नक्षत्रों के कुप्रभाव को दूर करने के लिए भी मन्त्र हैं। अपशकुन एवं दुःस्वप्नों के अपसारण के लिए उनकी प्रार्थनाएं की जाती हैं।

स्त्री कर्माणि—अथर्ववेद में विवाह एवं प्रेम का निर्देश करने वाले पति-पत्नी में अनुराग को विकसित करने की प्रार्थना सम्बन्धी मन्त्र भी हैं। इन्हें स्त्री कर्माणि या प्रेम सूक्त कहा जाता है। इन मन्त्रों में कुछ सामाजिक व शान्तिपूर्ण तत्त्वों से भरे हुए हैं। कुछ विवाह एवं शिशु प्राप्ति से संबंधित हैं, जो कि हानिरहित जादू मन्त्र हैं। इन मन्त्रों द्वारा वधू वर को वर वधू को प्राप्त करता है। वर-वधू के लिए शुभाकांक्षा है। गर्भिणी, भ्रूण, नवजात की रक्षार्थ भव्य प्रार्थनाएं हैं। विशेषतः 14वां काण्ड इन्हीं भावनाओं से आपूर्ण है। अथर्ववेद में कुछ इस प्रकार के मन्त्र भी हैं, जिनमें सपत्नीक को वश में करने के लिए जादू-टोना का सहारा लिया जाता है। ये मन्त्र वस्तुतः अंगिरा वर्ग के हैं। इनमें इन्द्रजाल और अभिशाप, वशीकरण आदि के मन्त्र हैं। अतः इन्हें अभिचार सूक्त भी कहा जाता है।

राजकर्माणि सूक्त—अथर्ववेद में कुछ सूक्त ऐसे भी हैं, जिनमें राजाओं का वर्णन है, जिनके अध्ययन से तत्कालीन राजनैतिक स्थिति का चित्र मिल जाता है। इन मन्त्रों में शत्रु विजय के लिए प्रार्थनाएं हैं। अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन है, राजपुरोहित का उल्लेख है। राजा के निर्वाचन का भी यही संकेत मिलता है, जिनमें वरुण स्वयं आता है। दुन्दुभी सूक्त सुन्दरतम एक सूक्त है। अथर्ववेद का पृथ्वी सूक्त भूमि विषयक सुन्दरतम एक सूक्त है।

'माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' (12/1/12) अर्थात् मेरी माता भूमि है और मैं मातृभूमि का पुत्र हूँ, बड़ी ही उदात्ता भावना का प्रेरक मन्त्र है।

याज्ञिक सूक्त—अथर्ववेद के अन्तिम भाग में कुछ यज्ञ सम्बन्धी मन्त्र भी हैं। पहले यह वेद वेदत्रयी के अन्तर्गत न था। ऋग्वेद के यज्ञपरक मन्त्रों के समान ही यहां भी कुछ मन्त्र मिल जाते हैं। सोलहवें काण्ड का गद्यांश यजुर्वेद से मिलता-जुलता है, जिसमें जल की भी प्रशंसा की गई है। 18वें काण्ड में मृत्यु सम्बन्धी अन्त्येष्टि क्रिया एवं पितृ-पूजा सम्बन्धी मन्त्र हैं। ऋग्वेद यम-सूक्त के मन्त्र परिवर्द्धन के साथ यहां भी पाए जाते हैं। 20वें काण्ड में सोमपान के मन्त्र हैं।

कुन्ताप सूक्त—अथर्ववेद में 20वें काण्ड में कुछ सूक्त विचित्र ही हैं, जो कि कुन्ताप सूक्त के नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनमें यज्ञ सम्बन्धी-दान स्तुति, राजकुमारों के औदार्य की प्रशंसा, पहेलियां एवं उनके समाधान हैं।

दार्शनिक सूक्त—इन सूक्तों में ईश्वर एवं रक्षक के रूप से प्रजापति, अन्तिम अद्वैत सत्ता तथा दार्शनिक शब्द ब्रह्म, तप, असत्, प्राण, मन आदि का वर्णन है; किन्तु ये विवरण इतने स्पष्ट नहीं हैं, जितने कि परवर्ती काल में उपनिषदों में हैं। ऋग्वेदकालीन दार्शनिक विचार परम्परा अभी तक विशिष्ट रूप में पल्लवित नहीं हो पाई है। वास्तविक रूप में दार्शनिकता का पल्लवन उपनिषदों में ही है। इसलिए अथर्ववेद के दार्शनिक मन्त्र मध्यकाल के प्रतिनिधि भी स्वीकार्य नहीं हैं। Deussen ने इन सूक्तों के सम्बन्ध में लिखा है कि They stand not so much inside the great of development, as rather by its side. इसलिए कहा जा सकता है कि अथर्व इन दार्शनिक विचारों का उद्भावक नहीं है अपितु उपभोक्ता है। इन मन्त्रों को दार्शनिक कहने की अपेक्षा रहस्यवादी कहना अधिक समीचीन होगा। वैसे ये मन्त्र अथर्ववेद के सबसे वाद के हैं। इनमें भी बहुत से मन्त्र व्यावहारिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हैं।

रोहित सूक्त—कुछ ऐसे सूक्त भी हैं जिनमें अनेक स्फुट विषयों का प्रतिपादन किया गया है। ऐसे सूक्तों को रोहित सूक्त कहा गया है। रोहित (रक्त) सूक्तों में रोहित वर्ण सूर्य को Creative Principle कहा है। सूर्य ने द्यावापृथ्वी की स्वतः रचना की है एवं सबका रक्षक भी है। स्वर्गीय राजा रोहित को पृथ्वी के राजा के रूप में बताया है। **वरुण, मित्र, रोहित की प्रशंसा की है।** इन्द्र एवं अन्य देवों को वृषभ के रूप में प्रस्तुत किया है। अनेक प्रकार से गौ की प्रशंसा की है। जो ब्राह्मण गोदान करता है, उसे सम्पूर्ण विश्व के पदार्थ मिल जाते हैं।

गाय, बैल एवं ब्रह्मचारी की काफी प्रशंसा की गई है। ब्रह्म को व्रात्य कहा गया है। अन्तरिक्ष स्थानीय व्रात्य, रुद्र एवं महादेव हैं, व्रात्य संभवतः पूर्वी जन-जाति थी। ये ब्राह्मणवाद से पृथक् से, समूहों में घूमते थे, लड़ाकू एवं पशुपालक थे, इनके अपने पृथक् रीति-रिवाज एवं सम्प्रदाय आदि थे। कोई भी व्रात्य ब्राह्मण धर्म में विशेष प्रकार से सम्मिलित हो सकता था। इसी प्रकार के व्रात्य की संभवतः यहां स्तुति भी है।

पैपलाद शाखा—अथर्ववेद की एक अन्य शाखा है, जिसका नाम है पैपलाद। वह शाखा 1870 में कश्मीर से महाराज रणवीरसिंह को अपने पुस्तकालय में शारदा लिपि में भोजपत्र पर लिखी मिली थी। उन्होंने इसे Prof. Roth को भेंट किया था। रॉथ की मृत्यु के उपरान्त यह 1895 में ट्यूर्विजन यूनिवर्सिटी को प्राप्त हुई। वहां के अधिकारियों ने इसकी 1901 में अमेरिका से फोटो सहित प्रकाशित किया है। इसके अन्य संस्करण भी मिले हैं किन्तु पैपलाद शाखा एवं शौनक शाखा में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। केवल ब्राह्मण पाठ तथा अभिचार कर्म अवश्य अधिक है। इसलिए यह विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है।

अथर्ववेद का रचनाकाल—अथर्ववेद का रचनाकाल ऋग्वेद की अपेक्षा परवर्ती है। यद्यपि अथर्ववेद के भाषा, छन्द वही ऋग्वेदीय हैं तथापि अथर्ववेद की भाषा में विकास के लक्षण होते हैं। इसी विकास के कारण अथर्ववेद की भाषा व छन्द यह सिद्ध कर देते हैं कि रचना अवान्तर कालीन है। यही नहीं, अथर्ववेद में वर्णित भौगोलिक एवं सांस्कृतिक दशा से भी यह ज्ञात होता है कि ऋग्वेदकालीन अवस्था के बाद के चित्र हैं, क्योंकि इस वेद के समय में आर्य दक्षिण-पूर्व में आकर गंगा के प्रदेश के निवासी बन गए थे। चीता (Tiger) जो कि पूर्वी देश का प्राणी है, ऋग्वेद में वर्णित नहीं है, अथर्ववेद में वर्णित है। वर्णित ही नहीं है, व्याघ्रचर्म को राजा धारण करता है। इसका भी उल्लेख यहां मिलता है। चातुर्वर्ण्य का ऋग्वेद में केवल एक मन्त्र में ही उल्लेख मिलता है परन्तु अथर्ववेद में ब्राह्मण की शक्ति तथा गरिमा विशिष्ट रूप से गाई गई है। ब्राह्मण इस वेद में भूदेव पद पर आसीन हो गए हैं। ब्राह्मणों ने अपने ज्ञान व कला-कौशल से समाज में आदरणीय स्थान बना लिया था।

अथर्ववेद में प्राप्त वैदिक देवताओं का व्यक्तित्व भी अथर्ववेद को परवर्ती सिद्ध कर देता है। अथर्ववेद में इन्द्र, अग्नि आदि देव ऋग्वेदीय ही हैं, किन्तु उसका पुराना व्यक्तित्व समाप्त हो गया है। अब तो उनके स्वरूप एवं कार्य पूर्णतः भिन्न मिलते हैं। ऋग्वेदीय देव प्रकृति के प्रतीक थे; किन्तु अथर्ववेद में यह प्रतीकात्मकता समाप्तप्राय है। अब तो वे देव-विशेष के रूप में राक्षसों, शत्रुओं के संहार एवं रोगों के विनाश के लिए आहूत किए जाते हैं। अथर्ववेद के आध्यात्मवादी एवं सृष्टि सम्बन्धी सूक्त भी उसे परवर्ती सिद्ध करते हैं क्योंकि इन सूक्तों में निहित दार्शनिकता लगभग उपनिषद् कालीन-सी है।

वेद के लिए प्राचीन साहित्य में प्राप्त त्रयी शब्द के आधार पर इसकी प्राचीनता पर प्रश्नवाची चिह्न अंकित किया जाता है; ठीक है कि यह उन तीनों वेदों के समान प्राचीन नहीं है, तथापि इस वेद को हम प्राचीन सिद्ध कर सकते हैं। भले ही त्रयी में ऋक्, यजु एवं साम का ही उल्लेख हो। भले ही गृह्यसूत्रों में अथर्ववेद की अपेक्षा तीनों वेद तथा वेदांग, इतिहास, पुराण को पवित्र कहा गया हों भले ही बौद्ध साहित्य में त्रयी विद्या में निपुण ब्राह्मण की चर्चा हो; किन्तु कृष्ण यजुर्वेद विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थ एवं उपनिषदों से अथर्व का उल्लेख है। "सामापि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम्" इस कथन से हम अथर्व को वेद त्रयी के समकक्ष प्रतिपादित कर सकते हैं। अतः इस दृष्टि से इसे नवीन नहीं कहा जा सकता है। पातंजलि महाभाष्य के उल्लेख से यह सिद्ध हो जाता है कि अथर्ववेद महाभाष्य से पूर्ववर्ती है। यजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता में अथर्ववेदीय अभिचार मन्त्रों का उल्लेख मिलता है। मन्त्रों में भी समानता मिलती है। यद्यपि ऋग्वेदीय ब्राह्मणों में अथर्व का नाम नहीं है किन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस वेद का दो बार नाम आया है। शतपथ ब्राह्मण से भी इनकी सत्ता का आभास मिल जाता है। शांखायन और आश्वलायन श्रौत सूत्रों में अथर्व का नामोल्लेख हुआ। वस्तुतः अथर्ववेद एक काल की रचना नहीं है अपितु ऋग्वेद की तरह इसमें भी विभिन्न युगों के अंश सम्मिलित हैं।

दोनों वेदों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय हम उनके नाम, समय, स्थान, विचार आदि सभी पर दृष्टिनिक्षेप करना आवश्यक समझते हैं। अथर्ववेद शब्द का अर्थ है, The Knowledge of Magic Formulae. मौलिक रूप से अथर्वन् शब्द का अर्थ है—Fire Priest, अवेस्ता का Fire people इस अथर्वन् शब्द के समकक्ष है; वहां भी अग्नि पुरोहित अग्नि पूजक बने हैं। भारतीय साहित्य में उपलब्ध अथर्वांगिरस शब्द इस वेद का प्राचीनतम अभिधान है, जिसका अर्थ है अथर्वो तथा अंगिराओं का वेद। अंगिराजन भी अथर्वो के वर्ग के ही हैं। दोनों के अभिचार मन्त्रों में भी विशेष अन्तर नहीं है। अथर्वन् शब्द का अर्थ है, रोगनाशक। इसलिए अथर्वन् ऋषियों के मन्त्र रोगनाशक हैं जबकि आंगीरस में शत्रुओं, प्रतिद्वन्द्वियों एवं दुष्ट मायावियों के प्रति अभिशाप मन्त्र है। अतः अथर्ववेद उक्त दोनों प्रकार की अभिचार विधि की ओर संकेत करता है। ऋग्वेद शब्द का तात्पर्य है, ऋचाओं का वेद। ऋचा से अभिप्रायः है गेय गद्य का। ऋग्वेद संहिता में ऋचाओं में ज्ञान राशि सम्भृत है जो कि वेदों को लक्ष्य कर कही गई हैं अथर्व में अभिचार एवं रोगनाशक मन्त्र हैं।

ऋग्वेद की रचना प्राचीनतम समय में हुई थी जबकि अथर्ववेद अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। इसलिए दोनों वेदों की विषय-सामग्री में भी मौलिक अन्तर मिलता है। ऋग्वेद की अधिकांश रचना सरस्वती नदी के तट पर हुई थी जबकि अथर्ववेद की रचना गंगा के मैदान में।

विद्वानों की एक विचारधारा इन दोनों में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए यह भी विश्वास व्यक्त करती है कि ऋग्वेद के विस्मृत मन्त्रों का संग्रह ही अथर्ववेद है जो कि परवर्तीकाल में यथासंभव उपायों से संग्रह किया गया है। विद्वानों का कहना है कि इसलिए वेदत्रयी में इसका नाम नहीं है। वैसे तो कुछ विद्वान् विषय-वस्तु के आधार पर इन दोनों वेदों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हुए अथर्व को ऋग्वेद का पूरक वेद मानते हैं।

इस प्रकार विवेचन करने पर हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँच जाते हैं कि अथर्ववेद में भौतिक तत्त्वों का प्राधान्य है, जबकि ऋग्वेद में आध्यात्मिक एवं आधिदैविक। यदि दोनों वेदों की विषय-सामग्री का एक साथ अध्ययन करें तो दोनों ही परस्पर पूरक प्रतीत होते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि अथर्ववेद के विचारों का धरातल सामान्य जन-जीवन है तो ऋग्वेद का विशिष्ट जन-जीवन। ऋग्वेद आचारों-विचारों का धरातल नितान्त उच्चस्तरीय, संस्कृत, शिष्ट एवं श्लाघनीय है जबकि अथर्ववेद प्राकृतजन के विश्वासों, आचारों-विचारों का, रहन-सहन का, अलौकिक शक्ति में दृढ-विश्वास का, भूत-प्रेत आदि अदृश्य शक्तियों पर पूर्ण आस्था का एक कोशग्रन्थ है।

वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य

संस्कृत साहित्य अपनी महत्ता एवं सर्वांगीणता के लिए विश्व के सर्वश्रेष्ठ साहित्यों में परिगणित होता है। इस साहित्य में मानव जीवनोपयोगी कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है, जिसमें भारतीय मनीषियों की मनीषा ने अपनी कुशलता न दिखलाई हो। आध्यात्मिकता से लेकर श्रृंगारिक साहित्य इसमें उपलब्ध हैं। एक ओर जहाँ वेद एवं उपनिषद् हैं वहाँ दूसरी ओर कामशास्त्र जैसे ग्रंथ भी हैं।

इस साहित्य को दो धाराओं में विभक्त किया गया है। एक प्राचीन धारा वैदिक साहित्य के नाम से तथा दूसरी अपेक्षाकृत अर्वाचीन धारा लौकिक साहित्य की धारा के नाम से अभिहित की जा सकती है। वैदिक साहित्य के सृजन के अनन्तर जो नवीन साहित्य निर्मित हुआ, उसमें लौकिकता का अधिक समावेश होने के कारण उस साहित्य का नाग लौकिक साहित्य हुआ। इस प्रकार वैदिक एवं लौकिक संस्कृत साहित्य इस समय साहित्य के अभिधान हुए। तुलनात्मक अध्ययन करने पर भाव, भाषा आदि की दृष्टि से परस्पर पर्याप्त वैषम्य होने पर भी दोनों साहित्यों का अपना-अपना महत्त्व है। हम दोनों ही साहित्यों का अन्तर इस प्रकार देख सकते हैं—

विषय-भेद की दृष्टि से—दोनों ही साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर बिना किसी सन्देह के पहुंचते हैं कि वैदिक साहित्य युगानुरूप धर्म की प्रधानता से मण्डित है। यह साहित्य देवताओं को लक्ष्य बनाकर उनके सन्तोष के लिए विविध यज्ञ-यागों में ही संलग्न रहा। इसमें प्रारम्भ में बहुदेववाद का प्राधान्य रहा फिर क्रमशः एकेश्वरवाद तथा सर्वेश्वरवाद की प्रतिष्ठा हुई। इस प्रकार से वैदिक साहित्य धर्म प्रधान, देवता प्रधान, कर्मकाण्ड प्रधान साहित्य के सृजन में ही लगा रहा, वहीं दूसरी ओर लौकिक साहित्य जिसका विकास सर्वतोपयोगी है। इसमें लौकिक जीवन से संबंधित साहित्यिक गतिविधियाँ प्रमुख हैं। यह साहित्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय के रूप में विकसित होते हुए भी अर्थ एवं काम की ओर विशेष उन्मुख रहा। औपनिषदिक प्रभाव से प्रभावित इस साहित्य में नैतिकता का भी स्थान विशेष रहा। इस काल में इस साहित्य में पूर्ववर्ती साहित्य के देव इन्द्र, अग्नि आदि गौण होने लगे तथा नवीन देव प्रजापति, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कुवेर, सरस्वती, लक्ष्मी आदि की परिकल्पना की जाने लगी और उन्हें महत्त्व भी दिया गया। यही नहीं, इस लौकिक साहित्य में एक विशेष बात यह भी हुई कि भक्ति के क्षेत्र में अवतारवाद की प्रतिष्ठा हुई, जिसने मानव की भावनाओं को विशेष रूप से प्रभावित किया।

वैदिक साहित्य के समाज में आर्य एवं दस्यु दो ही वर्ग थे; किन्तु लौकिक साहित्य में वर्णाश्रम धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है। तदनुरूप सामाजिक जटिलताओं का भी उदय होता है। वैदिक सरलता, स्वाभाविकता का लोप होकर मानवीय भाव एवं भावनाएं पूर्णतः परिवर्तित हो जाती हैं। जहां वैदिक ऋषि यत्र-तत्र सर्वतोभावेन विश्व की कल्याण-कामना किया करते थे वहां इस समाज से स्वार्थ-बुद्धि का बोलबाला होने लगा। लौकिक साहित्य में समाज नियंत्रण सामन्तवाद के आधार पर होता है। हम निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि वैदिक साहित्य परलौकिक भावभूमि की प्रतिष्ठा करता है तो दूसरा साहित्य लौकिक आधारशिला पर खड़े होने के कारण लौकिक भाव एवं भावनाओं का प्रतिष्ठापक है।

भाषागत—भाषागत अन्तर की समीक्षा करने पर हम कह सकते हैं कि वैदिक साहित्य पाणिनीय युग से पूर्व का है; इसलिए उसमें व्याकरण की इतनी जटिलता नहीं है जितनी कि परवर्ती भाषा में मिलती है। वैदिक साहित्य की अपेक्षा लौकिक साहित्य में नवीन शब्दों का सृजन होता है, वैदिक लेट् लकार इस साहित्य में पूर्णतः बहिष्कृत है। विभिन्न प्रकार की क्रियाएं लुप्त हो जाती हैं। इस लौकिक साहित्य में अपाणिनीय भाषा को सदोष माना जाता है। अन्ततः यही कहा जा सकता है कि वैदिक काल में संस्कृत भाषा व्याकरण के जटिल-जाल से मुक्त स्वच्छन्द रूप में प्रवाहित होती थी; किन्तु इस काल की भाषा को व्याकरण के नियमों में कसकर बांध दिया गया। वैदिक भाषा में जहां अलंकारों की संख्या न्यूनतम तीन-चार ही है वहां लौकिक भाषा में अलंकारों की संख्या दो सौ से अधिक हो जाती है; फलस्वरूप यह साहित्य अलंकारों की स्वर्णिम छटा से आलोकित है। वैदिक भाषा में छन्दों की संख्या न्यून है तथा मात्रिक छन्दों का ही प्राधान्य है वहां लौकिक संस्कृत में अनेक नवीन एवं भिन्न छन्दों की उद्भावना की गई है। बाह्याकार की दृष्टि से विचार करने पर हम दोनों ही भाषाओं के शब्द निर्माण की प्रक्रिया पर यहां संकेत करेंगे—

वैदिक संस्कृत में अकारान्त पुल्लिंग शब्दों का प्रथमा के बहुवचन का रूप असस् और अस् दो प्रत्ययों से बनता है; जैसे—**देवासः, देवाः** लेकिन लौकिक संस्कृत में **देवाः ब्राह्मणाः** इस रूप की प्रधानता है।

इसी प्रकार वैदिक संस्कृत अकारान्त शब्दों में तृतीया के बहुवचन में दो रूप **देवेभिः देवैः** मिलते हैं, किन्तु लौकिक संस्कृत में **देवैः** रूप का ही प्रयोग किया जाता है।

वैदिक संस्कृत में अकारान्त शब्दों का प्रथमा द्विवचन आ प्रत्यय के योग से और ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों का तृतीया एकवचन 'ई' प्रत्यय के योग से बनता है; उदाहरणार्थ—**अश्विना** तथा **सुष्टुतीः**; परन्तु लौकिक संस्कृत में "औ" तथा तृतीया एकवचन में टा प्रत्यय लगता है; उदाहरणार्थ—**अश्विनौ** तथा **सुष्टुत्या**।

वैदिक संस्कृत में सप्तमी का एक वचन अनेकशः लुप्त हो जाता है; जैसे—‘परमे व्योमन्’ किन्तु लौकिक संस्कृत में लुप्त नहीं होता अपितु व्योमन् के स्थान पर परिवर्तित होकर ‘व्योम्नि’ या ‘व्योमनि’ हो जाता है।

वैदिक संस्कृत के अकारान्त नपुंसक शब्दों का बहुवचन आ तथा आनि दो प्रत्ययों के योग से बनता है; जैसे—विश्वानि, अद्भूता, किन्तु लौकिक संस्कृत में वही विश्वानि, अद्भूतानि होगा।

वैदिक संस्कृत में क्रियापदों के अन्तर्गत वर्तमान काल के उत्तम पुरुष बहुवचन का रूप ‘मसि’ प्रत्यय के योग से बनता है; उदाहरण के लिए—‘मिनीमसि’। लेकिन लौकिक संस्कृत में ‘मिनीमः’ रूप बनता है।

वैदिक संस्कृत के लोटलकार मध्यम पुरुष बहुवचन में शृणीत; सुनातन, यतिष्ठान, कृणुतात; जैसे—रूप त, तन्, थन् तात प्रत्ययों के योग से बनते हैं; किन्तु लौकिक संस्कृत में उनका अभाव है।

लौकिक संस्कृत में ‘लिए’ के अर्थ में ‘तुमुन’ प्रत्यय का प्रयोग होता है; जैसे—गन्तुम्, कर्तुम्, द्रष्टुम्; किन्तु वैदिक संस्कृत में इस अर्थ में अनेक प्रत्यय लगते हैं; जैसे—से असे, वसे, अर्धय, शघ्ये आदि। इन प्रत्ययों से निर्मित शब्दों में अन्तर स्वाभाविक है।

वैदिक भाषा में आज्ञा तथा सम्भावना को व्यक्त करने के लिए लेट् लकार का प्रयोग होता है; किन्तु लौकिक संस्कृत में इसका अभाव है।

आकृतिगत—भेद पर विचार करने पर हम देखते हैं कि वैदिक व लौकिक भाषा व साहित्य अनेक रूपों में परस्पर भिन्न है। वैदिक साहित्य गद्य-पद्य उभयात्मक है। वैदिक साहित्य में गद्य कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखा अथर्ववेद के कुछ अंश में, मैत्रायणी संहिता तथा ब्राह्मण साहित्य में मिलता है। वह अपनी स्वाभाविक सरलता से अभिमण्डित है। प्राचीन उपनिषद् आरण्यक में ब्राह्मण साहित्य में भी उदात्त गद्य का प्रयोग हुआ है; किन्तु लौकिक साहित्य का विकास एवं उद्भव ही—

मा निषाद् प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।

यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।

इस अनुष्टुप् छन्द से होता है। यही नहीं, लौकिक साहित्य में पद्य का विकास दिनानुदिन चरम उत्कर्ष को प्राप्त होता है। पद्य का अपना प्रभाव क्षेत्र ज्योतिष एवं आयुर्वेद के ग्रन्थों तक हुआ है। यद्यपि लौकिक साहित्य में भी गद्य साहित्य प्राप्त है, किन्तु उसमें वैदिक गद्य की सरलता, स्वाभाविकता नहीं है। यह गद्य तो विकट समासबन्ध, अलंकार प्राचुर्य तथा दुर्धर विकट शब्द-जाल से ही मण्डित है। इस काल में दर्शन एवं व्याकरण के ग्रन्थों में अवश्य ही पूर्णतः गद्य का प्रयोग हुआ है। आशय यही है कि आकृति की दृष्टि से लौकिक साहित्य वैदिक साहित्य से पर्याप्त भिन्न है। दोनों में कुछ मौलिक अन्तर है।

लौकिक साहित्य के रसास्वादन के लिए व्याकरण ज्ञान, छन्द का पाण्डित्य, अलंकार प्रेम तथा काव्यशास्त्र की विभिन्न शैलियों से रचित है। इनके अभाव में लौकिक साहित्य का रसास्वादन संभव नहीं है। लौकिक साहित्य के रचयिताओं की शैली सदा ही कल्पना बहुल स्वपाण्डित्यप्रदर्शनमूलक तथा आत्म-प्रशंसा प्राप्त रही है। इसमें हृदय के स्थान पर मस्तिष्क एवं बुद्धि का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक किया गया है।

वैदिक साहित्य में हम जिन धाराओं एवं विचारों का मूल रूप यत्र-तत्र विच्छन्न रूप में प्राप्त करते हैं, उन सभी का लौकिक साहित्य में चरम प्रकर्ष मिलता है। उदाहरणतः वेदांग साहित्य, उपवेदों का तो विकास होता ही है महाकाव्य, गीतिकाव्य, नाट्यशास्त्र, लोक कथा, जन्तु कथा, कामशास्त्र, गद्यकाव्य आदि विभिन्न काव्यों की विधाओं का उदय तथा विकास होता है।

साहित्य समाज का दर्पण तथा मानव की अन्तर्भावनाओं का मूर्तरूप है; इसलिए लौकिक साहित्य में हम मानव की हार्दिक भावनाओं का समयानुरूप अंकन प्राप्त करते हैं। यह साहित्य पौराणिकता के भावों से मण्डित है। पुनर्जन्म का विश्वास यहां अधिक दृढ़ होता है। मानव शृंगारिकता की ओर अग्रसर होता है। मानव सरलता स्वाभाविकता से हटकर अलंकार एवं अस्वाभाविकता की ओर उन्मुख होता है। वैदिक साहित्य कल्पना एवं भावना से विशुद्ध रूप पर निर्भर है। जहां मानव का अन्तर्हृदय नैसर्गिक रूप में प्रवाहित होता है, वहां लौकिक साहित्य में शास्त्र एवं कला, प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति आदि का समन्वय मिलता है। वैदिक साहित्य में प्राकृतिक जीवन, ग्राम्य जीवन—उच्च विचार की भावना है, तो दूसरी ओर नागरिक जीवन वैभव तथा मानव जीवन का साहित्य है। अन्ततः यही कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि यदि वैदिक साहित्य तत्कालीन जनभाषा साहित्य में जनता का साहित्य है तो लौकिक साहित्य अभिजात्यवर्ग का, साहित्यिक भाषा का, नागरिक जीवन का साहित्य है। तथापि दोनों साहित्यों में एकरूपता तथा भारतीयता का सदाशय सर्वत्र विद्यमान है।

इस प्रकार भारतीय भाषाओं के विकास-क्रम का अध्ययन करते समय हम समग्र विकास को तीन युगों में विभक्त कर सकते हैं—

- (1) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा युग (वैदिक युग से 500 ई.पू. तक)
- (2) मध्यकालीन आर्यभाषा युग (500 ई.पू. से 1000 ई. तक)
- (3) आधुनिक आर्यभाषा युग (1000 ई. से अब तक)।

भारतीय आर्यभाषा युग की भाषा का प्रत्यक्षीकरण हम ऋग्वेद की भाषा में करते हैं। इस काल की भाषा का विकास यजु-साम अथर्ववेद एवं सूत्र ग्रंथों तक हुआ है। इसे वैदिक संस्कृत के नाम से अभिहित किया जाता है। मध्यकालीन आर्यभाषा युग में वेद की भाषा की विविधता को नियमित किया गया। उसे एकरूपता प्रदान की गई, जिसके परिणामस्वरूप एक राष्ट्रीय

साहित्यिक भाषा का विकास हुआ। इसी का नाम लौकिक संस्कृत रखा गया। विन्टरनिट्ज ने इसे Classical Sanskrit कहा है। Classical Sanskrit से उनका अभिप्राय क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—

What we call classical Sanskrit means Panini's Sanskrit that is the Sanskrit which according to the rules of Panini's is alone correct.

वैदिक भाषा को विन्टरनिट्ज प्राचीन भारतीय भाषा का नाम देते हैं। इस प्राचीन भाषा को, जिसमें साहित्यिक कृतियाँ, वैदिक मन्त्र आदि हैं। इस भाषा का आधार वे उत्तर-पश्चिम से आने वाले आर्यों की बोली को मानते हैं, जो कि प्राचीन फारसी, अवेस्ता तथा प्राचीन इण्डो-ईरानियन भाषा से अधिक दूर नहीं है। इसलिए उनके मत से वेद की भाषा तथा इस प्राचीन इण्डो-ईरानी भाषा में अधिक अन्तर नहीं है। स्वल्प अन्तर है, वह उसी प्रकार का जैसा कि पाली तथा संस्कृत में है। ध्वनि के अनुसार वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में अधिक अन्तर नहीं है। इस प्रश्न में हम ऋग्वेद की भाषा, अन्य संहिताओं की भाषा तथा लौकिक संस्कृत में भाषागत कितना अन्तर है, इस पर विचार करते समय विकास के आधार पर हम संहिताओं में सर्वप्रथम पद्य ऋचाओं का बाहुल्य प्राप्त करते हैं। ऋग्वेद तो सर्वथा ऋचाओं का वेद है, उसमें गद्य के हमें दर्शन नहीं होते हैं लेकिन परवर्ती संहिताओं की भाषा में पद्य के साथ गद्य के दर्शन भी हो जाते हैं। ब्राह्मण आदि साहित्य में तो गद्य का पर्याप्त विकास हुआ है। इस काल में गद्य प्रौढ़ता को प्राप्त हुआ है। लौकिक साहित्य के उदय काल में पद्य का ही बोलबाला रहा है; किन्तु कुछ समय के उपरान्त ही गद्य भी अलंकृत सौन्दर्य एवं विकटबन्ध के रूप में आता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि भाषा की विकासधारा पद्य से गद्य की ओर सर्वथा उन्मुख होती रही है।

वैदिक साहित्य के अनुसंधानकर्त्ताओं ने वैदिक भाषा के अध्ययन करने के पश्चात् यह धारणा बनाई है कि वैदिक साहित्य का सृजन एक साथ न होकर एक दीर्घ यात्रा करने के उपरान्त हुआ है। यही नहीं, स्वयं ऋग्वेद के कुल मण्डलों (Family-books) की अपेक्षा अन्य मण्डलों की भाषा में भी अन्तर है। प्राचीन ऋग्वेद के सूक्तों में रेफ का प्रचुर प्रयोग है। भाषा तत्त्ववेत्ताओं की मान्यता है कि संस्कृत भाषा के विकास के साथ ही ऋचाओं में 'रेफ' के स्थान पर लकार का प्रयोग बढ़ता गया है और लौकिक संस्कृत में तो उसी का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। उदाहरण के लिए जलवाचक 'सलिल' शब्द का पूर्व रूप, 'सरिर' था तथा कुल मण्डलों (Family books) में सरिर का ही प्रयोग हुआ; किन्तु दशम मण्डल में लकार युक्त शब्द का प्रयोग होने लगा है। व्याकरण की दृष्टि से भी भाषा-भेद दिखाई पड़ता है। ऋग्वेद के प्राचीन सूक्तों में पुल्लिङ्ग अकारान्त शब्दों में प्रथमा द्विवचन का प्रत्यय अधिकांश में 'आ' आता है; उदाहरणार्थ—'द्वासुपर्णा सयुजासखाया'। किन्तु दशम मण्डल में उस (आ) के स्थान पर 'ओ' का भी प्रचलन होने लगा है। जैसे—'मा बामेतौ मा परेतौ रिषाभं', 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता' (10/190/3)। प्राचीन सूक्तों 10/18/2 की क्रियाओं में

तवै, से, असे, अध्यै आदि अनेक प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं परन्तु दसवें मण्डल में अधिकतर “तुमुन्” प्रत्यय का ही प्रयोग मिलता है। प्राचीन कर्त्तवै ‘जीवसे’ ‘अवसे’ आदि पदों के स्थान पर अधिकतर ‘कर्त्तुम्’, ‘जीवितुम्’, ‘अवितुम्’ आदि तुमुन् प्रत्यायान्त प्रयोगों का बाहुल्य है। ऋग्वेद के दशम मण्डल की भाषा ही अवशिष्ट तीनों संहिताओं में दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार से ऋग्वेद एवं परवर्ती संहिताओं की भाषा में अन्तर है।

निरुक्तकार द्वारा वैदिक भाषा के अध्ययन होने पर भाषा की एकरूपता पर बल दिया गया। अतः भाषा विकास एकता की ओर उन्मुख हुआ। पाणिनि ने इसी कार्य को और भी आगे बढ़ाया और अन्त में वैदिक भाषा शब्द सम्पत्ति संक्षिप्त हो गई है।

इस प्रकार वैदिक एवं संस्कृत भाषा में एकता होने पर भी हमें कुछ मौलिक अन्तर मिलते हैं।

वैदिक साहित्य सर्वांगपूर्ण साहित्य है। विश्व साहित्य में इसकी महत्ता अक्षुण्ण है; किन्तु कराल-काल के क्रूर थपेड़ों तथा बर्बर आक्रान्ताओं के भयंकर आघातों से आज सम्पूर्ण वैदिक साहित्य उपलब्ध नहीं है, तथापि आज उपलब्ध वैदिक साहित्य भी अन्य विश्व की भाषाओं के साहित्य की अपेक्षा सम्पन्न है।

वैदिक शाखाएँ

वैदिक साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ करते ही हमें संहिता अथवा शाखा शब्द दृष्टिगोचर होता है। ऋचाओं अथवा मन्त्रों के समूह का नाम ही संहिता है। इसी का अपर नाम शाखा है। इसे हम संस्करण शब्द से भी अभिहित कर सकते हैं। चारों वेदों के अध्येता विभिन्न वंशों के होते थे अथवा यों कहा जाए कि प्राचीन काल में एक गुरु से अध्ययन करने वाले गुरु-पुत्र अथवा शिष्य या वंशजों ने ज्ञान को अपनी मेधा में संग्रहीत किया तथा परवर्ती समय में अपने-अपने शिष्यों को पढ़ाया; क्योंकि विशाल वैदिक साहित्य किसी एक व्यक्ति के पास सुरक्षित नहीं रह सकता था, न ही विशाल वैदिक साहित्य को एक व्यक्ति पढ़ा ही सकता था। इसलिए वेद की अनेक शाखाएँ मिलती हैं। ‘स्वाध्यायैक देश मन्त्र ब्राह्मणात्मकः शाखेत्युच्यते। तयोर्मन्त्र ब्राह्मणयोरन्यतर भेदेन वेदेऽवान्तरशाखाभेदः स्यादिति। “शाखा भेद कैसे हुआ? इसका उत्तर स्पष्ट है। वैदिक परम्परा में ऐसा समय था, जबकि अध्ययनाध्यापन का आधार केवल मौखिक था। उसी काल में एक ही गुरु के शिष्य-प्रशिष्य भारत जैसे महान् देश में फैलते हुये, विशेषतः गमनागमन की उन दिनों की कठिनाइयों के कारण किसी भी पाठ को पूर्णतः अक्षुण्ण नहीं रख सकते थे तथा पाठभेद का हो जाना स्वाभाविक था—“एवं वेदं भगवानृषिसत्तमः शिष्येभ्यश्च पुनर्दत्त्वा तपस्तप्तुं गतो वनम्। तस्य शिष्य प्रशिष्यैस्तु शाखा भेदास्त्वि मे कृताः।” वायुपुराण 61/77। साथ ही जान-बूझ कर पाठ का कुछ परिवर्तन या परिवर्द्धन भी अवस्था-विशेष में संभावना से बाहर की बात नहीं है। एक ऐसा भी समय था, जब नवीन ऋचाएँ भी बनायी जाती थीं। “अग्निः

पूर्वभिर्ऋषिभिरीड्यौ नूतनैरुत” (ऋग्. 1/1/2) “इमां प्रत्नाय सुष्टुतिं नवीयसीं वा चयेम्” (ऋग्. 10/91/13) इत्यादि ऋचाओं में स्पष्टतः प्राचीन और नवीन ऋषियों का और बिल्कुल नवीन बनाई हुई ऋचाओं का उल्लेख है। तभी तो वैदिक वाङ्मय में ऐसी भी ऋचाएँ और मन्त्र मिलते हैं, जो उपलब्ध वैदिक संहिताओं में नहीं पाये जाते। ऐसी अवस्था में पाठ-भेद कर देना या पाठ-भेद का हो जाना असंभावित नहीं हो सकता है। वस्तुतः यह ठीक भी है क्योंकि आर्यों ने अपना जब स्थान का विस्तार किया, इसी देशिक विस्तार के कारण भिन्न-भिन्न शाखाओं की उत्पत्ति हुई। अध्ययनाध्यापन के भेद से शाखा भेद ‘अध्ययन भेदाच्छाखाभेदः’ तथा देश-भेद से शाखाओं की व्यवस्था ‘देश भेदात्शाखानां व्यवस्थानम्’ हुई है। यह सिद्धान्त चिर समय से मान्यता प्राप्त है।

ऋग्वेद—विविध पुराण एवं पातंजल महाभाष्य के अनुसार ऋग्वेद की इक्कीस शाखाओं का उल्लेख मिलता है। पतंजलि ने लिखा है—

“एक विंशतिधा ब्राह्मवर्चम्”

किन्तु शौनक ऋषि के चरणव्यूह नामक ग्रन्थ में ऋग्वेद की पांच शाखाओं का उल्लेख मिलता है; जिनके नाम इस प्रकार हैं—(1) शाकल, (2) वाष्कल, (3) आश्वलायन, (4) माण्डूकायन, (5) सांख्यायन, किन्तु परवर्ती पुराणों में तीन शाखाओं का ही उल्लेख प्राप्त होता है—(1) शाकल, (2) वाष्कल, (3) माण्डूकायन।

आज उपलब्ध शाखा केवल शाकल है। वाष्कल शाखा भी जीर्ण-शीर्ण दशा में मिली है। वैसे इन दोनों शाखाओं में नाममात्र का ही अन्तर है। विषय-वस्तु में भी अन्तर नहीं है, केवल अन्तर इतना ही है कि वाष्कल में शाकल की अपेक्षा आठ सूक्त अधिक हैं। माण्डूकीय शाखा तो उपलब्ध ही नहीं है। आज प्रचार लब्ध ऋग्वेद शाकल शाखा का है। इस शाखा में 1028 सूक्त एवं लगभग 10472 मंत्र संगृहीत हैं जो कि दस मण्डलों में विभक्त हैं। इस शाकल शाखा से सम्बद्ध अन्य जो साहित्य प्राप्त होता है, वह इस प्रकार है—

ऐतरेय ब्राह्मण तथा कौषीतकी ब्राह्मण,
ऐतरेय आरण्यक तथा कौषीतकी आरण्यक,
ऐतरेय उपनिषद् तथा कौषीतकी उपनिषद्।

इनके अतिरिक्त एक आश्वलायन श्रौतसूत्र भी इस वेद से सम्बद्ध मिलता है। शाखाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शाकल ही है, क्योंकि एक तो अन्य शाखाएँ प्राप्त नहीं हैं, दूसरी जो प्राप्त भी हैं, उनमें भी इस शाखा के मन्त्र मिल जाते हैं। सामवेद की कौथुम में 75 मन्त्रों के अतिरिक्त सभी इसी शाखा के मन्त्र हैं। अथर्ववेद का 50वां काण्ड पूर्णतः तथा लगभग सम्पूर्ण अथर्व में 7 भाग इसी शाखा के मन्त्रों से बना है। कृष्ण यजुर्वेद में भी इस शाखा के मन्त्र मिल जाते हैं। इस प्रकार शाकल शाखा का वैदिक साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

यजुर्वेद—सूतसंहिता, ब्रह्माण्ड पुराण, स्कन्द पुराण आदि में यजुर्वेद की 107 शाखाओं का उल्लेख मिलता है। मुक्तिकोपनिषद् में 109 शाखाओं का उल्लेख मिलता है। शौनक चरण व्यूह के अनुसार यजुर्वेद की 86 शाखाएँ हैं; किन्तु पातंजलि महाभाष्य में, 'एक शतमध्वर्युशाखा' यजुर्वेद की 101 शाखाओं का निर्देश मिलता है।

किन्तु ऋग्वेद के समान ही इस वेद की भी 6 शाखाएँ मिलती हैं। उपलब्ध यजुर्वेदीय शाखाओं में कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध (1) तैत्तिरीय, (2) मैत्रायणी, (3) काठक, (4) कठ-कपिष्ठल हैं तथा शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध, (1) वाजसनेयी शाखा तथा (2) काण्व शाखा है।

यद्यपि कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध बारह शाखाओं के नाम विभिन्न पुराणों में मिलते हैं किन्तु अब नाममात्र ही शेष है। शुक्ल यजुर्वेद की शाखाओं से सम्बद्ध साहित्य में शतपथ ब्राह्मण तथा वृहदारण्यक, ईशोपनिषद् वृहदारण्यकोपनिषद् का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है तथा कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं से सम्बद्ध तैत्तिरीय ब्राह्मण एवं तैत्तिरीय आरण्यक तथा तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठोपनिषद् विशेष उल्लेखनीय हैं। इस शाखा के अन्तर्गत आठ सूक्त ग्रंथ भी मिलते हैं— (1) आपस्तम्ब कल्पसूत्र, (2) बौद्धायन श्रौतसूत्र, (3) हिरण्यकेशी कल्पसूत्र, (4) भारद्वाज श्रौतसूत्र, (5) मानव श्रौतसूत्र, (6) मानव गृह्यसूत्र, (7) वाराह गृह्यसूत्र, (8) काठक-गृह्यसूत्र।

सामवेद—सामवेद की शाखाओं के विषय में पातंजलि का कथन प्रसिद्ध ही है कि "सहस्रत्रवर्त्मा सामवेदः" सामवेद के हजार मार्ग हैं अर्थात् सामवेद की एक हजार शाखाएँ हैं; किन्तु आज तो यह केवल उल्लेख की ही बात रह गई है शौनकीय चरणव्यूह के—"सामवेदस्य किल सहस्र भेदा आसन्" में भी एक हजार शाखाओं का उल्लेख मिलता है। चरणव्यूह की टीका में लिखा है कि "आसां षोडस शाखानां मध्ये तिस्रः शाखा विद्यन्ते, गुर्जरदेशे कौथुमी प्रसिद्धा कर्णाटके जैमिनीया प्रसिद्धा, महाराष्ट्रे, तु राणायनीया।" इन सोलह शाखाओं में से अब केवल तीन ही विद्यमान हैं। गुर्जर देश में कौथुम, कर्णाटक में जैमिनीय, महाराष्ट्र में राणायनीय प्रसिद्ध हैं। वैसे तो अन्यान्य ग्रन्थों के विभिन्न उद्धरणों में इस वेद की एक हजार शाखाओं का उल्लेख मिलता है और दिव्यावदान में तो 1080 शाखाओं का उल्लेख है। बलदेव उपाध्याय वैदिक साहित्य एवं संस्कृति में लिखते हैं कि "आजकल इन तेरह आचार्यों में से आजकल केवल तीन आचार्यों की शाखाएँ मिलती हैं—(1) कौथुमीय, (2) राणायनीय, (3) जैमिनीय। ये तीनों ही शाखाएँ प्रकाशित भी हैं। इन तीनों शाखाओं में सर्वाधिक प्रचार कौथुमीय शाखा का है। इसका प्रचलन गुजरात के श्रीमाली एवं नागर ब्राह्मण तथा बंगाली ब्राह्मणों में है। राणायनीय शाखा प्रथम की अपेक्षा कम प्रचार लब्ध है। इसका प्रचार महाराष्ट्र में है। इस शाखा के मन्त्र आदि कौथुमीय से भिन्न नहीं हैं। दोनों मन्त्रगणना के हिसाब से समान ही हैं। केवल यत्र-तत्र उच्चारण में भिन्नता

मिलती है। जैमिनीय शाखा भी प्रकाशित है तथा इसका प्रचार कर्नाटक में है किन्तु इसके अनुयायियों की संख्या कौथुमों की अपेक्षा अल्प है। सामवेद संहिता की कौथुम शाखा में गेय ऋचाओं का ही संकलन हुआ है। इस शाखा की ऋचाओं की कुल संख्या 1875 है जो कि पूर्वार्चिक एवं उत्तरार्चिकों में विभक्त हैं। सामवेद से सम्बद्ध अन्य साहित्य में चार ब्राह्मण दो आरण्यक तथा तीन उपनिषद् सात सूत्र ग्रन्थ हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—

ब्राह्मण—(1) तांड्य ब्राह्मण (कौथुमीय), (2) षडविंश ब्राह्मण, (3) साम विधान ब्राह्मण, (4) जैमिनीय ब्राह्मण;

आरण्यक—(1) छान्दोग्य आरण्यक (कौथुमीय), (2) जैमिनीय आरण्यक;

उपनिषद्—(1) छन्दोग्योपनिषद् (कौथुमीय), (2) केनोपनिषद् (जैमिनीय), (3) जैमिनीय उपनिषद्,

सूत्र ग्रन्थ—कौथुम शाखा—(1) मशक कल्पसूत्र, (2) लाटय्या श्रौतसूत्र, (3) गोमिल गृह्यसूत्र,

राणायनीय शाखा—(1) द्राह्यायण श्रौतसूत्र, (2) खदिर गृह्यसूत्र।

जैमिनीय शाखा—जैमिनीय श्रौत सूत्र, जैमिनीय गृह्यसूत्र।

अथर्ववेद—श्रीमद् भागवत् एवं वायुपुराण आदि के अनुसार वेदव्यासजी ने जिस शिष्य को अथर्ववेद का ज्ञान दिया था, उसका नाम था सुमन्तु। सुमन्तु ने अपने शिष्यों को दो संहिताएं दीं। पहले पट्ट शिष्य का नाम पथ्य था, पथ्य के तीन शिष्य थे—(1) जाजलि, (2) कुमुद, (3) शौनक और दूसरे शिष्य का नाम था देवदर्श। देवदर्श के चार शिष्य थे—(1) मोद, (2) ब्रह्मबलि, (3) पिप्पलाद, (4) शौष्कायनि या शौक्लायनि। शौनक के भी दो शिष्य थे—बभ्र तथा सैन्धवायन। इन्हीं नौ ऋषियों के द्वारा अथर्ववेद की शाखाओं का प्रचार व प्रसार हुआ। पातंजल महाभाष्य के द्वितीय आह्निक में “नवधाऽऽथर्वणो वेदः” लिखा है जिससे अथर्ववेदीय नौ शाखाओं की पुष्टि होती है, किन्तु प्रपंच हृदय चरणव्यूह तथा सायण भाष्य के उपोद्घात में शाखाओं की संख्या में एकता होने पर भी नामों में भेद मिलता है। कुछ भी सही, आज हमें केवल दो शाखाएं मिलती हैं—एक, शौनक; दूसरी, पिप्पलाद। इनमें शौनक शाखा पूर्ण रूप में प्राप्त है तथा प्राप्त अथर्ववेद इसी शाखा का है। दूसरी पिप्पलाद संहिता भी जीर्ण-शीर्ण दशा में कश्मीर-नरेश रणजीतसिंह को प्राप्त हुई थी, उन्होंने Roth को भेंट कर दी थी। रॉथ की मृत्यु के उपरान्त इस शाखा को Bloomfield एवं Garvy ने जीर्ण-शीर्ण स्थिति में शारदालिपि में 1901 में 540 चित्रों सहित प्रकाशित करवाया है। शौनक शाखा अधिक प्रचारलब्ध है। पिप्पलाद शाखा के अधिकांश ग्रन्थ लुप्तप्रायः हैं; केवल एक प्रश्नोपनिषद् ही प्राप्त है तथा शौनक शाखा का एक गोपथ ब्राह्मण, मुण्डक, माण्डूक्य नामक दो उपनिषद् तथा दो सूत्र ग्रन्थ वैतान श्रौतसूत्र तथा कौशिक गृह्य-सूत्र आदि सम्बद्ध साहित्य भी उपलब्ध हैं।

वैदिक भाष्यकार

प्राचीनतम कृति का अर्थ समझना सहज कार्य नहीं है, क्योंकि प्राचीनता के साथ भावों में गम्भीरता, भाषा में परिवर्तन एवं कठिनाई आ जाने पर यह समस्या और भी जटिल बन जाती है। भारतीय संस्कृति के आदि ग्रन्थ वेदों के अर्थानुशीलन के सम्बन्ध में यही समस्या है। इसीलिए पाश्चात्य विद्वान् वेदों को भाषा एवं भाव को दुरुह कहकर उसके अर्थ समझने में अपने को असमर्थ मान लेते हैं; किन्तु वैदिक साहित्य में प्राप्त वेदांग साहित्य (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष) वेदों के भाष्य एवं अर्थ को समझने से हमारे मार्ग-प्रदर्शक बनते हैं। इन्हीं की सहायता से हम वैदिक शब्द के गूढ़ से गूढ़ अर्थ को समझने में समर्थ हो जाते हैं। प्रायः समस्त भारतीय भाष्यकारों ने उपर्युक्त वेदांग साहित्य की सहायता से वेदों के अर्थों को समझा है और समझाया है।

यास्क—वेदों के गम्भीर एवं सूक्ष्म अर्थ को बतलाने वाला प्रथम ग्रन्थ कौन-सा है? यह कहना कुछ कठिन है। आजकल हमें निघंटु नामक एक वैदिक शब्द संग्रह मिलता है 'निरुक्त' जिसकी विस्तृत टीका है। यास्क निरुक्त शास्त्र के प्राप्त आचार्यों में अन्यतम हैं, जिसकी कृति आज हमें समग्र रूप में उपलब्ध है। निरुक्ताचार्यों में यास्क तेरहवें आचार्य हैं। यास्क के स्वयं के उद्धरणों से चौदह निरुक्तों की सत्ता का आभास मिलता है। यास्क निघण्टु के व्याख्याकार हैं, स्वयं कर्ता नहीं, जैसा कि कुछ लोगों का कहना है। निरुक्त में बारह अध्याय हैं, जिसमें एक से तीन अध्याय तक का भाग निघण्टु कहलाता है, चार से छः अध्याय तक का अंश नैगम काण्ड कहलाता है तथा 7 से 12 अध्याय तक का अंश दैवतकाण्ड के नाम से अभिहित किया जाता है।

यास्क प्राचीनतम हैं, इनका काल पाणिनी से भी पूर्ववर्ती है। इनकी भाषा में वैदिक अपाणिनीय प्रयोग अनेकशः मिलते हैं। महाभारत के उल्लेख के अनुसार यास्क का समय विक्रम से सात सौ या आठ सौ वर्ष पूर्व माना जा सकता है; किन्तु मैकडानल यास्क का समय पंचम शतक ई.पू. मानते हैं।

यास्क का महत्त्व वैदिक व्याख्याकारों में मूर्धन्य है। ब्राह्मण ग्रन्थों के उपरान्त वेद की कल्पना करने वाला यह प्रथम ग्रन्थ है। यास्क का महत्त्व परवर्ती प्रत्येक वेद व्याख्याकार ने स्वीकार किया है। प्रत्येक भाष्यकार के ऊपर उनका प्रभाव परिलक्षित होता है सायण जो कि वेद भाष्यकारों में प्रसिद्धतम हैं, वे तो पूर्णतः यास्क के ऋणी हैं। यत्र-तत्र अपने अर्थ की रक्षा के लिए वे यास्क के अर्थ को उद्धृत कर यास्क की दुहाई देते चलते हैं। आधुनिक भारतीय वेद व्याख्याकार स्वामीदयानन्द ने भी यास्क का महत्त्व स्पष्टतः स्वीकार किया है। यही नहीं, यास्क की वेद भाष्य-पद्धति को पाश्चात्य वेदानुसन्धानकारियों ने भी अपनाकर यास्क की महत्ता को स्वीकार किया है।

यास्क ने वेद मन्त्रों के भाष्य करते समय दो शैलियों को अपनाया है—
1. नैरुक्तक शैली, 2. ऐतिह्यशैली। प्रथम नैरुक्तक शैली में शब्दों की निरुक्तिकर

के धातु प्रत्यय आदि का निर्देश किया जाता था और मूल अर्थ को स्पष्ट किया जाता था; जैसे—दुहिता शब्द की निरुक्ति—“दुहिता कस्मात् दूरेहिता भवति दोग्धिर्वा” दुहिता क्यों कही जाती है क्योंकि वह (पुत्री) दूर चली जाती है और जब तक घर में रहती है तब तक वह गाय का दोहन भी करती है। दूसरी ऐतिहासिक शैली में नित्य इतिहास की कल्पना की गई है। देवताओं को ऐतिहासिक पुरुष स्वीकार किया गया है। उनके मत से “वेद में इतिहास अनुस्यूत है। छान्दोग्योपनिषद् और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इतिहास को पंचम वेद माना गया है। वेद के कोष और वेदार्थ करने में व्याकरण से भी अधिक सहायक ग्रन्थ यास्काचार्य के निरुक्त ने भी वेद में इतिहास माना है। निरुक्त के कई स्थानों में “तत्रेतिहासमाचक्षते” आया है। निरुक्त में यास्क ने इषितसेन, शन्तनु, देवापि आदि के इतिहास का उल्लेख किया है। पिजवन-पुत्र सुदास, कुशिक पुत्र विश्वामित्र आदि का भी विवरण यास्क ने दिया है। निरुक्त के तीसरे अध्याय में यास्क ने प्रस्कण्व को “कण्वस्यपुत्रः” लिखा है। 4.3 में लिखा है “च्यवन ऋषिभवात्”। 9.3 में कहा गया है—“भार्म्यश्वो भर्म्यश्वस्य पुत्रः” इसी तरह “सन्त पन्तिमाम्” मन्त्र का अर्थ लिखने के बाद यास्क ने सायण की ही तरह लिखा है—कुएं में गिरे हुए त्रित ऋषि को इस सूक्त का ज्ञान हुआ। इसी मन्त्र के नीचे यास्क ने लिखा है—“तत्र ब्रह्मेतिहास मिश्रं गाथा मिश्रं भवति।” अर्थात् इतिहासों, ऋचाओं और गाथाओं से युक्त वेद हैं। फलतः यास्क के मत में वेद में इतिहास है इसी का प्रतिपादन करने वाली इनकी दूसरी शैली ऐतिहासिक शैली है। एक बात और भी यास्क के भाष्य के विषय में उल्लेखनीय है। वह यह कि यास्क के अनुसार वेद मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। वास्तव में तीनों ही अर्थ जगत् से सम्बन्ध रखते हैं अतः ठीक हैं। प्रत्येक मन्त्र का अर्थ भौतिक जगत् के अर्थ का बोधक है, देवता-विशेष परक अर्थ भी उसमें निहित रहता है तथा परमात्मा का अर्थ भी वह देता है।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि वेद भाष्य परम्परा में यास्क का महत्त्व स्वयं सिद्ध है। यास्क ही वह प्रथम प्रामाणिक व्यक्ति है, जिससे नवीन शैली के अनुसार दुरुह शब्दों का निर्वचन कर अर्थ निकाला है। यास्क का निरुक्त वेद भाष्यकारों के लिए Blind Stick के समान है।

सायण

भारतीय वेद भाष्यकर्त्ताओं में सायण का स्थान मूर्धन्य है। इन्होंने समस्त वैदिक संहिताओं के ऊपर भाष्य लिखे हैं। इनका समय चौदहवीं सदी है। ये विजयनगर के अधीश्वर महाराज बुक्क के प्रधानमंत्री पद पर प्रतिष्ठित थे। वेद भाष्यकारों में सायण के विषय में एक विद्वान् ने लिखा है कि “वैदिक भाषा तथा धर्म के सुदृढ़ गढ़ में प्रवेश पाने के लिए हमारे पास एक ही विश्वासार्ह साधन है और वह है सायण का चारों वेदों की संहिताओं का भाष्य” वैदिक परम्परा के पूर्णतः अनुगामी होने के कारण सायण ने भारतीय विचारधारा को ही अपनाया है।

पूर्ववर्ती भाष्यकारों की परम्पराओं का अनुसरण करते हुए पाणिनी व्याकरण, अनुक्रमणी, प्रातिशाख्य और ब्राह्मण तथा निरुक्त ग्रंथों से सायण ने पूरी-पूरी सहायता ली है। सायण का भाष्य वैदिक परम्परा के अनुरूप है। वह भारतीय दृष्टिकोण तथा पाश्चात्य विद्वानों H.H. Winston Jacobe आदि के मत से भी सर्वथा विश्वसनीय एवं उपादेय है। सायण के वेद-भाष्य कार्य का मूल्यांकन करते हुए हम कह सकते हैं कि इन्होंने ऋग्वेदीय मन्त्रों के आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक—तीनों ही प्रकार के अर्थों का यथास्थान उल्लेख किया है। ऋग्वेद में प्राप्त होने वाली समाधि-भाषा परकीय भाषा तथा लौकिक—तीनों ही प्रकार की भाषाओं का रहस्य सायण ने स्पष्ट किया है। इसलिए यह कहना कि इन्होंने केवल अधियज्ञ परक वेदभाष्य किया है, उचित नहीं है। सायण ने समग्र संहिताओं पर क्रमशः कृष्ण, यजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता, ऋग्वेदीय शाकल संहिता, शुक्ल यजुर्वेदीय काण्व संहिता, सामवेदीय कौथुम संहिता और अथर्ववेद शौनक संहिता पर भाष्य लिखे हैं। यही नहीं, सायण वेद को दैवी कृति मानकर ही चले हैं। वैसे तो सायण ने आध्यात्मिक आधि-भौतिक, आधिदैविक तीनों ही प्रकार से अर्थ किये हैं; किन्तु सायण की दृष्टि कर्मकाण्डीय अधिक रही है। अतः यज्ञपरक भाष्य का प्राधान्य है ऐसा होना ही आवश्यक था; क्योंकि सायण के समय में कर्मकाण्ड का बोलबाला था। सायण ने अपने भाष्य लिखने में यास्क के निरुक्त से पर्याप्त सहायता ली है प्रायः प्रत्येक महत्त्वपूर्ण शब्द की व्युत्पत्ति सिद्धि तथा स्वराघातों का पूर्ण विवेचन प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर किया है। यास्क के समान उन्होंने शब्दों के कई अर्थ दिये हैं। निरुक्त का भी खूब जमकर प्रयोग किया है। यास्क द्वारा व्याख्या मन्त्रों को भी यत्र-तत्र उन्होंने मन्त्रों के आने पर अविकल उद्धृत किया है। सायण सूक्त के मन्त्रों की व्याख्या एवं भाष्य करने से पूर्व विनियोग, ऋषि, देवता आदि तथ्यों का निर्देशन प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर करते हैं। किसी भी सूक्त में Mythology के आने पर उसको ये पूर्णतः स्पष्ट करते हुए आख्यायिका को उद्धृत कर देते हैं। एक बात और है, वह यह है कि प्रत्येक ग्रन्थ के भाष्य से पूर्व वे उपोद्घात में विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करते हैं।

सायण ने भारतीय भाष्यकारों की पूर्व परम्परा के अनुरूप ही भाष्य किया है। उनकी पुष्टि में पुराण, इतिहास तथा महाभारत आदि ग्रन्थों में आवश्यक रूप में सहायता ली है। समग्र वेद भाष्यों में इनकी विद्वता, व्यापक पाण्डित्य एवं अध्यवसाय की सर्वत्र छाप है। परवर्ती भाष्यकार क्या भारतीय और क्या ही पाश्चात्य सभी ने सायण का ही अंचल पकड़ कर वेदभाष्य रूपी वैतरणी को पार करने का उपक्रम किया है।

स्वामी दयानन्द

वेद भाष्यकर्त्ताओं में आचार्य दयानन्द को स्मरण न किया जाए, यह संभव नहीं है। आधुनिक युग में स्वामी दयानन्द ने वेदों के उत्थान के लिए

पर्याप्त कार्य किया है। स्वामीजी ने वेद-भाष्य करते समय रावण, उब्वट, सायण और महीधर के भाष्यों का उपयोग नहीं किया है; अपितु वेद, वेदांग, ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मणों के अनुसार उन्होंने अपने भाष्य लिखे हैं। स्वामी जी की दृष्टि से उब्वट, सायण, महीधर के भाष्य मूलार्थ और सनातन वेद व्याख्यानों के विरुद्ध हैं तथा आधुनिक विद्वानों द्वारा किये जाने वाले भाष्य भी अपूर्ण हैं। सायणाचार्य ने क्रियाकाण्ड को ही प्रधानता दी है, कहीं-कहीं सायण ने अर्थ भी ठीक नहीं किये हैं। महीधर का भाष्य मूल वेद के विरुद्ध है। इन्हीं सभी कारणों का उल्लेख करते हुए स्वामीजी ने अपने भाष्य को लिखने से पूर्व अपने भाष्य लिखने की आवश्यकता पर विचार करते हुए लिखा है कि—

“इस भाष्य में पद-पद का अर्थ पृथक्-पृथक् क्रम से लिखा जावेगा जिससे नवीन टीकाकारों के लेख से जो वेदों में अनेक दोषों की कल्पना की गई है, उन सबकी निवृत्ति होकर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश हो जाएगा तथा जो-जो सायण, माधव, महीधर और अंग्रेजी अन्य भाषा में उल्टे भाष्य किये जाते व किये गये हैं तथा जो-जो देशान्तर भाषाओं में टीकाएँ हैं, उन अनर्थ व्याख्यानों का निवारण होकर मनुष्यों को वेदों के सत्य अर्थों के देखने से अत्यन्त सुख लाभ पहुंचेगा, क्योंकि बिना सत्यार्थ प्रकाश के देखे मनुष्यों की भ्रम निवृत्ति कदापि नहीं हो सकती। जैसे प्रमाण्या-प्रामाण्य विषय में सत् और असत् कथाओं के देखने से भ्रम की निवृत्ति हो सकती है। ऐसे ही यहां समझ लेना चाहिए इत्यादि प्रयोजनों के लिए इस वेदाभाष्य का बनाने का आरम्भ किया है।”

स्वामीजी ने अपने वेदभाष्य में वेदों को अनादि सिद्ध किया है। आपकी दृष्टि में वेदों में लौकिक इतिहास का सर्वथा अभाव है तथा वेदों के सभी शब्द यौगिक तथा योगरूढ़ हैं। इसी आधारशिला पर स्वामीजी के भाष्य का भवन खड़ा हुआ है। इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवता वाचक शब्द परमात्मा के वाचक हैं। निरुक्तकार ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन इन शब्दों में किया है, जितने भी देवता है, वे सब एक महान् देवता परमेश्वर की शक्ति के प्रतीक मात्र हैं—

**महाभाग्यास् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते ।
एकस्यात्मनो त्वन्ये देवा प्रत्यंगानि भवन्ति ।।**

एकं सद्दिप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिस्वानमाहुः स्वामीजी आध्यात्मिक शैली को अपनाकर चल रहे हैं। वह वस्तुतः ठीक है। वेदों में आये हुए नाम भौगोलिक या ऐतिहासिक नहीं हैं अपितु यौगिक हैं। वेद में आया हुआ वशिष्ठ शब्द ऋषि के लिए नहीं है अपितु वह प्राण का बोधक है, इसी तरह भारद्वाज का अर्थ ऋषि भारद्वाज न होकर मन और विश्वामित्र का अर्थ ऋषि न होकर कान है। स्वामीजी के मत का समर्थन मनु भगवान् ने भी किया है—

सर्वेषां स ते नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक् । वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ।। अर्थात् “वैदिक शब्दों के आधार पर ही संसार के प्राणियों के नाम, कर्म और व्यवस्थापन अलग-अलग किये गये।” इस प्रकार वेदोल्लिखित

समग्र उर्वशी, पुरुरवा, नहुष, यम, सुदास आदि के नाम एवं कार्य नित्य हैं और वेदों में नित्य इतिहास हैं, पौराणिक इतिहास नहीं पुराणादि में इन नामों को लेकर इतिहास रचना की गई है। वेदों में अनित्य इतिहास का अभाव है।

किन्तु स्वामीजी के वेदभाष्य के ऊपर विद्वानों का कुछ मतभेद है। उनका कहना है कि यास्क ने वेद के मन्त्रों के तीन प्रकार से अर्थ किये हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। तीनों वस्तुतः यथार्थ हैं। अतः इन्द्रादि देवों से केवल परमेश्वर का अर्थ लिया जाना उचित नहीं है इसी प्रकार अग्नि भौतिक अग्नि के साथ देव का भी सूचक है जो इस भौतिक अग्नि का अधिष्ठाता है। साथ ही साथ परमेश्वर के अर्थ को भी स्पष्ट करता है; किन्तु स्वामीजी ने केवल आध्यात्मिक अर्थ को ही स्वीकार किया है। वह एकांगी विचार है।

“वैज्ञानिक युग में उत्पन्न होने के कारण इनकी दृष्टि विज्ञान पर थी, वह स्वाभाविक ही था। साथ ही वैज्ञानिक अर्थ प्रकट करने का उन्होंने यत्न भी किया।.....स्वामीजी के समय में भी एक बड़ी अड़चन यह थी कि अन्य विद्वानों की दृष्टि वेदों पर नहीं थी। तब बिना सहायता और बिना गुरु-परम्परा के ज्ञान के, केवल व्याकरण-ज्ञान के बल पर स्वामीजी जो कुछ कह सके, वह भी बहुत किया। दूसरी बात यह थी कि स्वामीजी ने कई कारणों से अपने कुछ सिद्धान्त नियत कर लिये थे। उन पर ठेस लगने देना नहीं चाहते थे। स्वतन्त्र देवताओं की स्तुति-प्रार्थना वेदों में स्वीकार कर लेने पर कहीं प्रतीकोपासना सिद्ध न हो जाए, इस भय से इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि देवता वाचक शब्दों का अर्थ उन्होंने बहुधा ‘ईश्वर’ ही कर दिया है और इस प्रकार देवता-विज्ञान उनके भाष्य में अप्रकाशित ही रह गया.....मन्त्रों में विष्णु आदि शब्दों का अर्थ श्री स्वामीजी ने परमात्मा ही किया है।.....यह भी देखा जाता है कि विज्ञान के मूल सिद्धान्तों को प्रकट करने की अपेक्षा सामाजिक बातों को, अपने अभिमत आचरणों को और प्रचलित उपभोग की सामग्री को वेद-मन्त्रों में दिखाने का उन्हें विशेष ध्यान था। इसीलिए जिन मन्त्रों का स्पष्टतया वैज्ञानिक अर्थ हो सकता था, उनको भी उन्होंने सामाजिक प्रक्रिया पर ही लगाया है।”

किन्तु निःसंदेह यह सच है कि स्वामीजी ने अधुनिक काल में वेदों के लिए जो कार्य किया है, वेदों की जो पुनः प्रतिष्ठा की है, उसके पठन-पाठन का जो प्रचार किया है, वेदों के जो मौलिक भाष्य किए हैं, वे अद्वितीय हैं। स्वामीजी ने कृत्रिम मतवादों से हटाकर वेद को उसके मौलिक स्वरूप में सार्वभौम और उदात्त मानव धर्म के प्रतिपादन की जो प्रतिष्ठा की है, वह अपने में पूर्ण है।

रुडोल्फ रॉथ—यूरोप के साथ भारत के सम्बन्ध हो जाने के उपरान्त पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि भारतीय वैदिक साहित्य की ओर गई। यूरोपीय विद्वानों ने पूर्ण लगन के साथ वैदिक साहित्य के अध्ययन में अपने को लगा दिया। विभिन्न प्रकार के ग्रन्थों का सम्पादन और अनुवाद वे करने लगे। परन्तु इन यूरोपीय विद्वानों की दृष्टि, पद्धति और उद्देश्य उस वैज्ञानिक के समान हैं जो

एक रसायनशाला में किसी पदार्थ का विश्लेषण करता है अथवा खुदाई में प्राप्त किसी एक शिलालेख का अध्ययन करता है।

पाश्चात्य भाष्यकर्त्ताओं ने वेदभाष्य में दो शैलियों को अपनाया—प्रथम शैली वह थी जो भारतीय विद्वानों के भाष्यों की उपेक्षा कर उन्हीं के अनुरूप भाष्य करते थे। उन भाष्यकर्त्ताओं का कहना था कि भारतीय विद्वान् हमारी अपेक्षा वेदों के अधिक निकट हैं। ठीक इसके विपरीत उन पाश्चात्य विद्वानों का मत है जो भारतीय विद्वानों के भाष्यों की उपेक्षा करते हैं और निरुक्तकार को भी यह मानते हैं कि उनके समय तक वेदों का ठीक अर्थ लुप्त हो चुका था। भाषा-विज्ञान और भाषा-शास्त्र की सहायता से वेदों का भाष्य और अर्थ करना चाहते हैं। इनकी वेद विषय पर अपनी स्वतन्त्र वेद व्याख्याएं हैं, उनका कहना है कि वेदोत्पत्ति के पर्याप्त समय पश्चात् आज एक भारतीय जैसा अर्थ कर सकता है, उससे अच्छा अर्थ पाश्चात्य देशीय भाषा-विज्ञान की समालोचना पद्धति पर वेद-भाष्य कर सकता है। रॉथ की भाष्य पद्धति के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि—

तुलनात्मक भाषा-शास्त्र तथा इतिहास के साथ-साथ भारतेतर देशों के धर्म तथा रीति-रिवाज का भी अधिक ध्यान करते हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक-तुलनात्मक पद्धति को अपनाते हैं, केवल अन्धानुकरण नहीं करते हैं। वैज्ञानिक पद्धति को अपनाकर विभिन्न शब्दों के अर्थ निर्धारित करने की चेष्टा करते हैं; किन्तु दुःख इस बात का है कि रॉथ महोदय दुराग्रहवश अपनी अहम्मन्यता के कारण भारतीय टीकाओं की उपेक्षा करते हैं और इसी कारण भारतीय भाष्यों की अच्छाइयों को ग्रहण नहीं कर पाते। फलस्वरूप वे न तो परम्परा से प्राप्त अर्थ ही दे पाये हैं और न समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही। इसलिए हम कह सकते हैं कि जहां इनके भाष्य की अच्छाई तुलनात्मक-ऐतिहासिक शैली है वहां परम्परा प्राप्त भारतीय दृष्टिकोण का अभाव एक दोष भी है।

रॉथ की शिष्य परम्परा में ग्रासमान जैसे विद्वानों ने वेद का अंग्रेजी में पद्यानुवाद किया है। रॉथ ने सन् 1846 में 'वेद का साहित्य तथा इतिहास' नामक पुस्तक लिखी। रॉथ ऐतिहासिक परम्परा के अनुकूल ही सेन्ट पीटर्स वर्ग संस्कृत जर्मन महाकोश की रचना की है। इस कोश के निर्माण में शब्द का अर्थ विकास-क्रम से दिया गया है तथा इसमें वैदिक साहित्य से लेकर लौकिक साहित्य के ग्रन्थों तक की सहायता ली गई है।

अध्याय-4

ब्राह्मण साहित्य

वैदिक संहिताओं के पश्चात् वैदिक वाङ्मय के काल-क्रम में ब्राह्मण साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ब्राह्मण साहित्य से हमारा अभिप्राय यज्ञ-विशेष पर किसी विशिष्ट आचार्य के मत या वाद से है। ब्राह्मण ग्रन्थ सामूहिक रूप से यज्ञ-विधान पर विद्वान् पुरोहितों द्वारा की गई व्याख्याएं हैं। ब्राह्मण शब्द ब्रह्मन् के व्याख्या करने वाले ग्रन्थों को भी कहते हैं। ब्रह्म शब्द स्वयं अपने अर्थों में प्रयुक्त होता है। उन अनेक अर्थों में एक अर्थ मन्त्र है—'ब्रह्म वै मन्त्र'; (शतपथ 7/1/1/5)। इस प्रकार वैदिक मन्त्रों या ऋचाओं की व्याख्या करने वाले ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण है। ब्रह्म शब्द का दूसरा अर्थ यज्ञ है। याज्ञिक कर्मकाण्ड की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत करने के कारण भी इन ग्रन्थों को ब्राह्मण-ग्रन्थ कहते हैं।

ब्राह्मण शब्द का अर्थ करते हुए विन्टरनिट्ज ने अपने इतिहास में लिखा है—Explanation of utterance of a learned priest of a Doctor of the Science of sacrifice, upon any point of the ritual, used collectively, the word means. Secondly a collection of such utterance and discussions of the priest upon the science of sacrifice. ब्राह्मण शब्द का अर्थ यह है कि यज्ञ के विधि-विधानों में कुशल विद्वान् पुरोहितों द्वारा यज्ञों के अवसर पर प्रयोग की जाने वाली संहिता भाग की विधियों का संकलन। समष्टि रूप में इस शब्द का अर्थ है। यज्ञगत पुरोहितों के उच्चारणों एवं व्याख्यानों का संग्रह। गम्भीर विवेचन करने पर हम यह निष्कर्ष सहज ही निकाल लेते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों की विषय-वस्तु का सीधा सम्बन्ध वैदिक संहिताओं से है। इन ब्राह्मण ग्रन्थों में याज्ञिक विषयों एवं समस्याओं का समाधान है। इसलिए हम इन्हें यज्ञ-विज्ञान की संहिता भी कहें तो अनुपयुक्त न होगा; क्योंकि यज्ञ का क्रियाकलाप भी स्वयं अपने में एक विज्ञान है। इस प्रकार यज्ञ-विज्ञान का गम्भीर विवेचन करने वाले ग्रन्थ ही ब्राह्मण हैं। The Texts which deal with the science of sacrifice.

ब्राह्मण साहित्य के सर्वांगीण विवेचन करने पर हम इस समग्र 'साहित्य' को दो रूपों में विभक्त कर सकते हैं—एक, विधि और दूसरा, अर्थवाद। इस सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए प्रो. विन्टरनिट्ज ने लिखा है, "प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय को हम विधि और अर्थवाद इन दो भागों में रख सकते हैं। विधि का अर्थ होता है—नियम और अर्थवाद का अभिप्राय है, प्रशस्तिपूर्ण व्याख्या। ब्राह्मण ग्रन्थों में हमें कर्म अनुष्ठान विधि मिलती है और इन विधियों पर यज्ञ, कर्म तथा प्रार्थनाओं के अर्थ और उद्देश्य के ज्ञान के लिए भाष्य और व्याख्याएं मिलती हैं।

शबर स्वामी ने ब्राह्मण-ग्रन्थों की विषय-सामग्री को इस श्लोक में संग्रहीत किया है—

हेतु निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण-कल्पना।
उपमानं दर्शते तु विधियो ब्राह्मणस्य तु।।

—शाबर भाष्य, 2/1/8

अर्थात् यज्ञ का विधान क्यों किया जाए; कब किया जाए; कैसे किया जाए; किन साधनों से किया जाए; इस यज्ञ के अधिकारी कौन हैं और कौन नहीं; आदि विभिन्न विषयों का निर्देश इन ब्राह्मण ग्रन्थों में होता है। अर्थवाद में निन्दा तथा प्रशंसा का योग रहता है। योग में निषिद्ध एवं उपयोगी वस्तुओं की निन्दा एवं प्रशंसा; यज्ञीय विधि की उपयुक्तता—अतः हेतु का निर्देश; अनुष्ठेय विधान की पुष्टि के लिए प्राचीन इतिहास तथा आख्यान के उद्धरण; शब्द-विशेष की व्युत्पत्ति प्रदर्शन; विविध विधियों का विधान आदि ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय हैं। किन्तु यह सर्वांश में सत्य है कि इन ग्रन्थों में विधि का प्राधान्य है। अन्य सभी विषय उस यज्ञीय विधि के उपकारक, व्याख्याकारक तथा विधि को पूर्णता प्रदान करते हैं।

ब्राह्मण काल की संस्कृति में वैदिक याज्ञिक कर्मकाण्ड चरम विकास को प्राप्त हो चुका था। मानव मात्र का अनुष्ठेय कर्म यज्ञ ही था, समस्त सुखों की, वैभव की उपलब्धि भी यज्ञकर्म से होती थी। यज्ञ ही देवता था, वही विष्णु भी था। “यज्ञो वै विष्णुः” तथा यज्ञ ही देवपूजा, संगति, दान आदि का आधार था। उन्हीं यज्ञों का सर्वांगीण विवेचन इन ब्राह्मण ग्रंथों का उद्देश्य है। वैदिक एवं ब्राह्मण संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्तों की विवेचना इन ग्रंथों में है। इनका महत्त्व इसी में निहित है। जैसे तो विण्टरनिट्ज के लिए ब्राह्मण ग्रंथ यज्ञ कर्म रूपी नीरस झाड़-झंकाड़ तथा व्यर्थ की बकवाद ही है तथा मैक्समूलर की दृष्टि में भारतीयों के लिए भले ही इनका कुछ महत्त्व हो; किन्तु भारतीय धर्म एवं संस्कृति पर जिसकी आस्था नहीं है, उसके लिए ये निरर्थक ही हैं क्योंकि इनमें न तो विचारों की व्यापकता है और न कलागत प्रौढ़ता ही। “ब्राह्मण ग्रंथ का एक बहुत बड़ा भाग केवल निरर्थक प्रलाप मात्र है। जब आध्यात्मिक प्रलाप आरम्भ होता है तो वह अंश और भी अधिक निरर्थक प्रतीत होता है। कोई भी पाठक इनके कुछ पृष्ठ पढ़कर ही उद्विग्नता का अनुभव करने लगता है।” परन्तु भारतीय साहित्य के तत्त्व जिज्ञासु के लिए भारतीय धर्म के अध्ययन के लिए इनकी अपरिहार्यता निश्चित है।

ब्राह्मण साहित्य में अपने-अपने विषय के आधार पर भिन्नता है। ऋग्वेद के ब्राह्मण में ‘होता’ नामक ऋत्विज के कार्यों की विवेचना है जो कि यज्ञों में ऋचाओं का उच्चारण करता है। सामवेदीय ब्राह्मण ‘उद्गाता’ नामक ऋत्विज के

कार्यों का परिचायक है तथा यजुर्वेदीय ब्राह्मण 'अध्वर्यु' के कर्मकाण्ड की व्याख्या करते हैं। अथर्ववेद के ब्राह्मण 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विज के याज्ञिक कार्यों का निर्देशक एवं उपस्थापक है। इस प्रकार विषय-वस्तु की दृष्टि से भिन्नता होनेपर भी उनमें समानता यह है कि वे सब परस्पर अविरुद्ध हैं। सभी में एक ही विषय पर एक ही प्रकार की चर्चा है। एक ही आदर्श है। समस्त कृतियों में भावात्मक एकता है। ब्राह्मण साहित्य का स्थान संहिताओं के उपरान्त आता है। ब्राह्मण ग्रंथ यज्ञ-यागादि के प्रामाण्यवाद के प्रतिपादक हैं। कर्मकाण्डीय विधि-विधान के मूल स्रोत हैं, भारतीय एवं ब्राह्मण संस्कृति के अमर चित्र हैं। भारतीय संस्कृति के तथा भारतीय-विचार-परम्पराओं के अनुवर्ती विद्वानों के लिए गौरव ग्रंथ हैं। इनका वैदिक साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ब्राह्मण साहित्य के विकास की ओर दृष्टि निक्षेप करने पर हमें यह आभास होने लगता है कि किसी समय इस प्रकार के अनेक ग्रंथों की सत्ता रही होगी, क्योंकि आज उपलब्ध ब्राह्मण ग्रंथों में इस प्रकार के अनेक अन्य ब्राह्मण ग्रंथों का उल्लेख मिलता है जो आज अनुपलब्ध हैं। चारों वैदिक संहिताओं के अपने-अपने ब्राह्मण हैं। मूल यजुर्वेद में एक अंश ऐसा उपलब्ध होता है जिसमें मन्त्रों के अतिरिक्त यज्ञों की क्रियाओं के अर्थ, उनकी प्रयोग-विधि एवं मत-मतान्तरों की समीक्षा भी है। कृष्ण यजुर्वेद के इन स्थलों को जिनमें यज्ञ-क्रियाओं का निर्देश तथा तत्सम्बद्ध विचार व्यक्त किये गये हैं, उनको हम निश्चय ही ब्राह्मण साहित्य के प्रारम्भिक रूप स्वीकार कर सकते हैं। यह भी कह सकते हैं कि यही वे अंश हैं जिन्होंने ब्राह्मण साहित्य के उदय को विकास प्रदान किया है।

अब हम क्रमशः प्रत्येक वेद से सम्बद्ध विभिन्न ब्राह्मण ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय देंगे।

ऋग्वेद के ब्राह्मण ग्रंथ

इस वेद के ब्राह्मणों पर दृष्टि निक्षेप करने पर हमें ब्राह्मण ग्रंथ मिलते हैं; प्रथम—ऐतरेय ब्राह्मण, द्वितीय—कौषीतकी ब्राह्मण। 'ऐतरेय ब्राह्मण' ऋग्वेद का महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण है। इस ग्रंथ में चालीस अध्याय हैं, जिन्हें आठ पंचकों में विभक्त किया गया है। इस ब्राह्मण के लेखक या संग्रहकर्ता के रूप में महीवास ऐतरेय का नाम लिया जाता है। प्रस्तुत ब्राह्मण में सोमयज्ञ का सविस्तार वर्णन मिलता है। प्रारम्भिक सोलह अध्यायों में एक दिन में समाप्त होने वाले अग्निष्टोम नामक सोम यज्ञ का वर्णन है। सत्तरहवें एवं अठारहवें अध्याय में 360 दिन पूर्ण होने वाले गवामयन नामक सोमयज्ञ का वर्णन है। उन्नीसवें अध्याय से लेकर चौबीसवें अध्याय तक बारह दिन में पूर्ण होने वाले द्वादशाह नामक सोम यज्ञ का वर्णन है। अवशिष्ट अध्यायों में अग्निष्टोम यज्ञ तथा अन्य विषयों का उल्लेख है। तेईस से लेकर चालीसवें अध्याय तक राज्याभिषेक तथा राजपुरोहित आदि की

स्थिति का भी दिग्दर्शन किया गया है। इस ब्राह्मण के अन्तिम दस अध्यायों की रचना परवर्ती मानी गई है।

ऋग्वेद के दूसरे ब्राह्मण का नाम कौषीतकी है। इसे सांख्यायन ब्राह्मण भी कहा जाता है। यह ब्राह्मण ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण के प्रथम पांच अध्यायों का ही परिवर्द्धित रूप है। प्रारम्भिक छः अध्यायों में विविध (अन्न, यज्ञ, अग्नि, होत्र यज्ञ, पोर्णमास्येष्टि यज्ञ, ऋतु यज्ञ आदि) यज्ञों का वर्णन है। सातवें से लेकर तीसवें अध्याय तक ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित सोमयज्ञ का सविस्तार विवेचन किया गया है। इसमें ऐतरेय की अपेक्षा अधिक नवीनता विद्यमान है। ऐतरेय ब्राह्मण में यत्र-तत्र संग्रह प्रवृत्ति को देखकर यह पता चलता है कि यह एक व्यक्ति की कृति नहीं है; किन्तु कौषीतकी ब्राह्मण की भावभूमि में एकता विद्यमान है। इस ब्राह्मण की एक अपनी विशेषता आख्यानों की सत्ता है। इस ब्राह्मण के तृतीय अध्याय की सातवीं पंचिका में शुनः शेष एवं ऐतरेय ब्राह्मण का अध्याय चर्चित है।

सामवेदी ब्राह्मण—सामवेद से सम्बद्ध चार ब्राह्मण मिलते हैं। इनमें प्रथम महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण का नाम तांड्य ब्राह्मण है। यह पच्चीस अध्यायों की रचना है। इसलिए इसे पंचविंश ब्राह्मण भी कहा जाता है। रचना की दृष्टि से यह प्रौढ़ एवं प्राचीनतम है। इसमें सामान्यतः सोमयज्ञ का वर्णन है। एक दिन से लेकर वर्षों तक चलने वाले यज्ञों की चर्चा इसमें है। अनेक आख्यानों का समावेश है। सरस्वती एवं दृषद्वती के तट पर होने वाले यज्ञ उनके कर्त्ता तथा काल आदि का भी इसमें उल्लेख मिलता है। इस ब्राह्मण में **वात्य-स्तोम** एक अन्य यज्ञ का भी विधान है, जिसके माध्यम से व्रात्यों (भ्रष्टों) को शुद्ध करके आर्यो अथवा ब्राह्मण जाति में उन्हें स्वीकार किया जाता था।

षड्विंश ब्राह्मण—रचना की दृष्टि से यह पूर्णतः स्वतन्त्र होने पर भी तांड्य ब्राह्मण का अंगभूत ब्राह्मण स्वीकार किया जाता है। इसमें इन्द्रजाल तथा अलौकिक घटनाओं का उल्लेख है।

जैमिनीय ब्राह्मण—तवलकार शाखा का यह ब्राह्मण तांड्य की अपेक्षा प्राचीन रचना है। इसमें पांच मण्डल हैं। प्रथम तीन मण्डलों में याज्ञिक विधि का वर्णन है। चौथा मण्डल उपनिषद् ब्राह्मण कहलाता है। इसका विषय केनोपनिषद् जैसा ही है। पांचवे मण्डल का नाम **आर्षेय ब्राह्मण** है। इसमें सामवेदीय ऋषियों की एक लम्बी सूची है। 'जैमिनीय ब्राह्मण' धर्म व आख्यान के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है; किन्तु यह जीर्ण-शीर्ण स्थिति में ही उपलब्ध है।

सामविधान—कुमारिल भट्ट के अनुसार निर्दिष्ट आठ ब्राह्मणों में से यह एक अन्यतम रचना है। इसकी विषय-सामग्री ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित सामग्री से नितान्त भिन्न है। इस ब्राह्मण ग्रन्थ में जादू-टोना तथा शत्रु-विनाश, धनोपार्जन, नाना उपद्रवों की शान्ति के लिए सामगायन के साथ कुछ अनुष्ठानों का विधान है। इस ब्राह्मण के तीन प्रकरण हैं, जिनमें धर्मसूत्रों में वर्णित दोष, अपराध, उनके प्रायश्चित्तों का प्रतिपादन है। इन आधारों पर हम इस ग्रन्थ को नूतन रचना कह

सकते हैं। ऊपर निर्दिष्ट ब्राह्मणों के अतिरिक्त दैवत ब्राह्मण, उपनिषद् ब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण का भी नाम कुछ ग्रंथों में मिल जाता है जो कि स्वल्पाकार रचनाएं हैं।

कृष्ण यजुर्वेदीय-तैत्तिरीय ब्राह्मण—इस वेद का 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' ही एकमात्र उपलब्ध ब्राह्मण है। एक दूसरे 'काठक ब्राह्मण' का भी नाम सुना जाता है किन्तु वह प्राप्त नहीं है। तैत्तिरीय ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण के समान प्राचीन रचना प्रतीत होती है। यह ग्रंथ तीन भागों में विभक्त है, जिन्हें काण्ड कहते हैं। प्रथम काण्ड में अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, सोम, नक्षत्रष्टि; तथा राजसूय का वर्णन है। द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र, सौत्रामणि, वृहस्पति आदि का वर्णन है। तृतीय काण्ड अर्वाचीन रचना है।

शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण—'शतपथ ब्राह्मण' ग्रंथों में शीर्ष स्थानीय है। यह ब्राह्मण सर्वाधिक प्रसिद्ध स्पष्ट विषय-वस्तु-युक्त एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस ब्राह्मण में सौ अध्याय हैं अतः इसे 'शतपथ' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस सुगठित ब्राह्मण का वैदिक साहित्य में ऋग्वेद के उपरान्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। वाजसनेयी संहिता की भांति ही इस ब्राह्मण की भी दो शाखाएं हैं—प्रथम का नाम ताण्ड्य एवं द्वितीय का नाम माध्यन्दिनीय। माध्यन्दिनीय शाखा के इन ब्राह्मण में सौ अध्याय हैं। इन अध्यायों का विभाजन चौदह काण्डों में हुआ है। इसके प्रारम्भिक नौ काण्ड यजुर्वेदीय वाजसनेयी संहिता के प्रथम अठारह अध्यायों की विस्तृत व्याख्या है। यह अंश अन्तिम पांच अध्यायों से प्राचीनतर है। प्रथम से लेकर पंचम काण्ड तक विषय की दृष्टि से एकरूपता है। इन अध्यायों में याज्ञवल्क्य एकमात्र आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। याज्ञवल्क्य ही चौदहवें काण्ड में शतपथ के लेखक के रूप में उल्लिखित हैं; किन्तु 6 से 9 तक के काण्डों में जिनमें अग्निचयन का वर्णन है, याज्ञवल्क्य का कहीं उल्लेख नहीं है। इनके स्थान पर शांडिल्य नामक आचार्य को मान्यता प्राप्त है। यही आचार्य शाण्डिल्य दसवें काण्ड में वर्णित अग्निरहस्य के उपदेशक हैं। ग्यारहवें से लेकर तेरहवें काण्ड उपनयन स्वाध्याय, अन्त्येष्टि, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध आदि यज्ञों का वर्णन है। इसी काण्ड के अन्त में हम उस महत्त्वपूर्ण वृहदारण्यक उपनिषद् को प्राप्त करते हैं जो दार्शनिक तत्त्वज्ञान के लिए अन्यतम है।

'शतपथ ब्राह्मण' के ऊपर प्रदत्त परिचय से उसके महत्त्व का भी आभास मिल जाता है। शतपथ ब्राह्मण का काल याज्ञिक विधि-विधान के पूर्ण विकास का काल है। 'शतपथ ब्राह्मण' के वर्ण्य-विषयों के विस्तार, विचार-परम्परा तथा विवरण के कारण यह ब्राह्मण ब्राह्मण-ग्रंथों में मूर्धन्य स्वीकार किया जा सकता है। यह प्राचीनतम ब्राह्मणों में से एक ब्राह्मण है। आख्यान साहित्य की दृष्टि से भी यह ब्राह्मण महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन आख्यानों में मनु की कथा बड़ी मार्मिक तथा सरस रूप में इसमें निबद्ध है। पुराणों के मत्स्यावतार की गाथा भी इसी ब्राह्मण में सर्वप्रथम निहित मिलती है। जहां प्रलयंकार बाढ़ के आने पर इसी अपूर्व

मत्स्य ने मनु की रक्षा की थी। यह कथा इसी रूप में बाइबिल में भी मिलती है। इस ब्राह्मण में सांख्य दर्शन के आचार्य आसुरि, कुरुपति जनमेजय, पाण्डव प्रमुख अर्जुन तथा जनक उपाधिधारी राजाओं का उल्लेख मिलता है। शतपथ में याज्ञवल्क्य के गुरु उद्दालक आरुणि का व्यक्तित्व एवं पांडित्य आकर्षक रूप से उपन्यस्त है। अतः हम कह सकते हैं कि ऐतिहासिक तथ्यों के उद्घाटन के लिए भी इस ग्रंथ की महत्ता अक्षुण्ण है। आर्यों के प्रसार के इतिवृत्तात्मक ज्ञान प्रदान करने में भी यह ब्राह्मण अपना योगदान करता है। शतपथ ब्राह्मण के विधि-विधान एवं विविध आख्यान तत्कालीन सामाजिक जीवन के नैतिक स्तर एवं चारित्रिक विशेषताओं का पूर्ण ज्ञान प्रदान करने में समर्थ हैं। यही नहीं, धर्म-शास्त्र एवं धर्म-विज्ञान के जिज्ञासु के लिए यह ब्राह्मण अनुपम आकर ग्रन्थ है। भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से भाषा के विकास की गाथा का अध्ययन यहां किया जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण के भौगोलिक उल्लेखों से स्पष्ट है कि उस समय कुरु पांचाल देश ब्राह्मण सभ्यता के केन्द्र बन चुके थे। सभ्यता एवं संस्कृति के विकास की गाथा जानने के लिए भी यह ग्रन्थ-रत्न परम उपादेय है। यही नहीं, सांस्कृतिक एवं धार्मिक दृष्टि से वैदिक संहिता एवं परवर्ती काल का विकास भी इस ब्राह्मण साहित्य में दर्शनीय है। जाति-प्रथा का विकास इन ग्रन्थों में चरमावस्था पर दिखाई देता है। ब्राह्मणों के भूसुरत्व की यहां प्रतिष्ठा की जाती है। श्री बलदेव उपाध्याय ने समग्र ब्राह्मण साहित्य के महत्त्व का मूल्यांकन करते हुए जो विचार व्यक्त किए हैं, उनको हम शतपथ ब्राह्मण के महत्त्व के रूप में भी देख सकते हैं क्योंकि शतपथ ब्राह्मण, ब्राह्मण साहित्य का प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

अथर्ववेदीय ब्राह्मण—अथर्ववेद का एकमात्र ब्राह्मण गोपथ है। इसके दो भाग हैं—1. पूर्व गोपथ, 2. उत्तर गोपथ। प्रथम भाग में पांच अध्याय हैं तथा द्वितीय में 6 अध्याय। रचना-काल की दृष्टि से ब्राह्मण साहित्य में यह अर्वाचीन रचना है। इसका रचना काल वैज्ञानिक सूत्र के पश्चात् माना जाता है। प्रस्तुत ब्राह्मण में प्राप्त 'शिव' शब्द तथा व्याकरण परिष्कृत शब्दावली इस तथ्य के द्योतक हैं कि रचना वास्तव में अर्वाचीन है। विषय-वस्तु की दृष्टि से पूर्वाद्ध मौलिक हैं। किन्तु शेष भाग पर शतपथ ब्राह्मण की छाया अंकित है। इस परवर्ती रचना में ऋग्वेदीय ऐतरेय, कौषीतकि तथा पंचविंश ब्राह्मण से भी विषय-सामग्री का चयन किया गया है।

सम्पूर्ण ब्राह्मण साहित्य के अध्ययन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ऋग्वेद के ब्राह्मण 'होता' के कार्यों की विशेष व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जबकि सामवेदीय ब्राह्मण 'उद्गाता' नामक ऋत्विज के कार्यों के व्याख्याता हैं। यजुर्वेदीय ब्राह्मण 'अध्वर्यु' के कर्मकाण्ड की व्याख्या करते हैं तो अथर्ववेद का ब्राह्मण सभी ब्राह्मणों की विषय-सामग्री एवं ऋत्विज के कार्यों को अपना लेता है। वैसे भी 'ब्रह्मा' नामक प्रधान ऋत्विज का कार्य भी सम्पूर्ण यज्ञ का निरीक्षण है। समस्त ब्राह्मण ग्रंथों के स्वरूप में पारस्परिक अन्तर होते हुए भी इन ग्रन्थों में अन्ततः पारस्परिक समानता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों का रचना-काल—यह निःसन्देह सत्य है कि जिस प्रकार वेदों के निर्माण एवं संकलन में शताब्दियां लगी हैं उसी प्रकार ब्राह्मण साहित्य भी सहस्रों वर्षों के चिन्तन का परिणाम है। इस बात की पुष्टि हम सामवेद के एक ब्राह्मण में प्राप्त पचास गुरुओं के नामों के उल्लेख से कर सकते हैं। इन पचास गुरुओं की लम्बी परम्परा को एक हजार वर्षों का समय सहज ही दिया जा सकता है। वैसे तो विद्वान् कभी-कभी इनकी ऐतिहासिकता पर भी सन्देह करने लगते हैं। किन्तु उनका सन्देह तो समग्र वैदिक साहित्य की ऐतिहासिकता पर भी है जो किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं। साथ ही इन आचार्यों के नामों का उल्लेख हम अन्य ग्रन्थों में भी देखते हैं। पुराणों में भी इन आचार्यों का नाम मिलता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से तात्कालिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक क्षेत्र के उत्कर्ष का ज्ञान हमें होता है। वह उत्कर्ष काल प्रायः बौद्धकालीन है। क्योंकि निकट परवर्ती बौद्ध-साहित्य में ब्राह्मणों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा गया है और तो और सत्य तो यह है कि वह बौद्धधर्म वास्तव में ब्राह्मणों के उत्कर्ष की प्रतिक्रिया स्वरूप ही था। इसलिए यदि ब्राह्मण-साहित्य के उदय एवं विकास काल को 1000 ई.पू. से 600 ई.पू. तक स्वीकार कर लिया जाए तो अनुपयुक्त न होगा, क्योंकि मैक्समूलर ने बौद्ध-साहित्य (500 ई.पू.) से वैदिक साहित्य को पूर्ववर्ती ठहराया है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों ने बौद्ध-धर्म का उदय इसी समय में माना है। एक बात और यह भी है कि यह वह काल था, जबकि वैदिक साहित्य सर्वांशतः संकलित हो चुका था। उसके उपरान्त ही ब्राह्मण साहित्य का निर्माण व संकलन हुआ है। अतः संहिता साहित्य के निर्माण के उपरान्त ही ब्राह्मण ग्रन्थों का उदय स्वीकार कर लेना चाहिए।

वैदिक उपाख्यान

यह निर्विवाद सत्य है कि ब्राह्मण साहित्य में याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्राधान्य है। वैदिक कर्मकाण्ड की विस्तृत व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थ प्रस्तुत करते हैं। ब्राह्मणों में हमें दो प्रकार की सामग्री मिलती है। एक तो वह जिसे हम विधि के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। दूसरी वह जिसे अर्थवाद कहा जाता है। विधि में यज्ञ-यागादि की गतिविधियों की व्याख्या एवं उन पर प्रकाश डाला गया है। अर्थवाद के अन्तर्गत इतिहास, पुराण एवं आख्यान आदि मिलते हैं जो याज्ञिक क्रिया को सर्वसाधारण के लिए सुलभ एवं ज्ञेय बनाते हैं। साथ ही मानव चरित्र को नैतिकता का संदेश देते हैं।

यास्क ने निरुक्त में वेदों की व्याख्या शैली में ऐतिह्य नैरुक्तिक शैली का संकेत किया है जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि वैदिक साहित्य में इन आख्यानों-उपाख्यानों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। समस्त वैदिक साहित्य में इस प्रकार अनेक उपाख्यान विद्यमान हैं। वैदिक आख्यान ही विशेषतः इन ब्राह्मणों में परिवर्द्धित एवं विकसित रूप में मिलते हैं।

विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों में निम्न आख्यान देखने को मिलते हैं—

- | | |
|------------------------|-------------------------|
| (1) शनुः शेष आख्यान | ऐतरेय एवं शतपथ ब्राह्मण |
| (2) पुरुरवा-उर्वशी | शतपथ ब्राह्मण |
| (3) दुष्यन्त-शकुन्तला | शतपथ ब्राह्मण |
| (4) जल-प्लावन | शतपथ ब्राह्मण |
| (5) वाणी सोम | शतपथ ब्राह्मण |
| (6) वशिष्ठ विश्वामित्र | |

(7) च्यवन भार्गव सुकन्या मानवी; रात्रि उत्पत्ति, सृष्टि उत्पत्ति, पर्वत कथा आदि अन्य उपाख्यान भी क्रमशः शतपथ एवं वृहदारण्यकादि में मिलते हैं।

शनुः शेष आख्यान—शनुः शेष की कथा हमें ऋग्वेद साहित्य के पश्चात् ऐतरेय ब्राह्मण में भी मिलती है। इन रोचक एवं प्राचीन उपाख्यान में हमें तात्कालिक समाज में होने वाली अनेक प्रथाओं का आभास मिलता है।

इस उपाख्यान की कथा इस प्रकार है। राजा हरिश्चन्द्र वरुण को प्रसन्न कर सशर्त एक रोहित नामक पुत्र प्राप्त करते हैं किन्तु शर्त यह थी कि जब वरुण चाहेंगे, अपने पुत्र को पुनः वापिस ले लेंगे। पुत्र रोहित के पूर्ण युवा होने पर वरुण उसे मांगता है और राजा उसकी बलि देना चाहता है किन्तु रोहित जंगल में भाग जाता है। उसके भाग जाने पर वरुण के दण्डदान देने पर राजा को जलोदर हो जाता है। रोहित इस समाचार को सुनकर लौटना चाहता है किन्तु ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र उसे भ्रमण के महत्त्व को समझा कर लौटने नहीं देता है। इस प्रकार वह पांच वर्ष तक वन में घूमता रहता है। छठे वर्ष भ्रमण करते समय रोहित को क्षुधाकुल पथ-भ्रष्ट अजीगर्त ऋषि अपने तीन पुत्र शनुः पुच्छ, शुनः शेष, शूनोलांगुल तथा पत्नी के साथ मिलते हैं। रोहित अजीगर्त ऋषि को एक पुत्र के बदले सौ गायें देने को कहता है। अजीगर्त ज्येष्ठपुत्र को तथा पत्नी कनिष्ठपुत्र को नहीं देना चाहते। इसलिए बेचारे शुनःशेष (मध्यपुत्र) रोहित के साथ कर दिये जाते हैं। वरुण क्षत्रिय की अपेक्षा ब्राह्मण को अच्छा समझ कर उसे बलि के रूप में स्वीकार कर लेता है। शुनःशेष की बलि का आयोजन राजसूय यज्ञ के पशु के स्थान पर होता है। इसी समय एक समस्या और खड़ी होती है वह यह कि ब्रह्महत्या का पातक कौन अपने सिर ले? अजीगर्त सौ गायें स्तम्भ में बांधने के बदले तथा सौ गायें मारने के बदले लेकर हत्या के लिए प्रस्तुत हो जाता है। इसी समय शुनःशेष वेदों की शरण में जाता है, उनकी प्रार्थन करता है। तीन ऋचाओं में उषा की स्तुति होने पर उसके बन्धन खुल जाते हैं। हरिश्चन्द्र का जलोदर ठीक हो जाता है। इसके पश्चात् पुरोहितवर्ग शुनःशेष का यज्ञ महोत्सव में स्वागत करता है। इस यज्ञ में हरिश्चन्द्र 'होता' बनते हैं और अपने सौ पुत्रों की उपेक्षा कर शुनःशेष को पुत्र रूप में स्वीकार कर उसे अपना उत्तराधिकारी भी घोषित करते हैं। इस आख्यान में स्त्री को मित्र

तथा पुत्री को विपत्ति तथा पुत्र को स्वर्गीय प्रकाश कहा गया है। शूनःशेष का आख्यान प्राचीन होते हुए भी ऋग्वेद से तुलना करने पर यह परवर्ती सिद्ध होता है।

पुरुरवा और उर्वशी—द्वितीय उपाख्यान पुरुरवा और उर्वशी का है। जो कि शतपथ ब्राह्मण की मरुभूमि में रम्य शाद्वल प्रदेश के समान है। इस उपाख्यान का सूत्र ऋग्वेदीय है। उसी ऋग्वेदीय कथा का यहां विकास हुआ है। जहां ऋग्वेद में केवल कथोपकथन मात्र है वहां इस ब्राह्मण में रोचक एवं विस्तृत रूप में निबद्ध है। साहित्य के सौन्दर्य की भी पूर्ण निष्पत्ति वहां हुई है। वैदिक आख्यान में पुरुरवा वह व्यक्ति है, जिसने श्रौतअग्नि की स्थापना का रहस्य जानकर याज्ञिक-क्रिया का विस्तार किया था। इस उपाख्यान में हम देखते हैं कि उर्वशी नामक अप्सरा का राजा से प्रेम होता है। प्रेम हो जाने के उपरान्त वह अपनी पत्नी बनाने के लिए कुछ प्रतिज्ञाएं करवाती हैं। प्रतिज्ञा भंग होने पर गन्धर्वों द्वारा उर्वशी राजा को छोड़ने के लिए बाध्य कर दी जाती है। उर्वशी जब राजा को छोड़कर चली जाती है तब राजा विरहाकुल विलाप करता हुआ कुरुक्षेत्र में यत्र-तत्र घूमता-फिरता है। अन्त में वह उर्वशी को कमल पुष्पों को समलंकृत सरोवर में हंसिनी के रूप में तैरते हुए देखता है। यहां तक की कथा ऋग्वेद की कथा से मिलती-जुलती है। उर्वशी राजा की करुणार्द्र स्थिति से द्रवित होकर राजा से कहती है। इस वर्ष की अन्तिम रात्रि में तुम मेरे साथ रह सकोगे, तभी तुम्हारा पुत्र होगा। एक वर्ष के उपरान्त दोनों का मिलन होता है। उस समय उर्वशी राजा से कहती है कि कल तुम्हें प्राप्त गन्धर्व एक वरदान देंगे। तुम अभीष्ट वस्तु उनसे मांग लेना। राजा उर्वशी से ही मांगने के लिए पूछता है। उर्वशी उस समय बताती है कि तुम वरदान में यह मांगना कि मुझे भी अपने जैसा बना दो। गन्धर्वों के कहने पर राजा अपना अभीष्ट वर मांगता है और गन्धर्व भी पुरुरवा को एक अभीष्ट अग्निहोत्र सम्पादन की विधि बताते हैं, जिसके द्वारा एक मानव भी गन्धर्व बन सकता है। यह आख्यान ब्राह्मण साहित्य ही क्या अपितु अन्य परवर्ती साहित्यों में भी अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त करता है।

शतपथ ब्राह्मण में हम **जलप्लावन** की कथा भी देखते हैं, जिसमें मनु का आख्यान निहित है। मानव जाति के आदिपुरुष मनु ने सृष्टि की रक्षा कैसे की? मानवता एवं मानव की जाति के विकास के लिए (पुत्र-प्राप्ति के लिए) मनु यज्ञ करते हैं और यज्ञ में स्त्री उत्पन्न होती है। उसी स्त्री से मनुष्य जाति का विकास होता है। इस मनु की पुत्री का नाम इड़ा है। आगे चलकर यह कथा अनेक काव्यों, महाकाव्यों की प्रेरक बनती है।

शतपथ ब्राह्मण में निबद्ध च्यवन, भार्गव तथा सुकन्या मानवी का आख्यान भारतीय नारी का रूप प्रस्तुत करता है। वृद्ध च्यवन की चमकती हुई आंखों को फोड़कर स्वयं सुकन्या अपराध करती है। फलतः अपराधिन यौवन सम्पन्न सुकन्या स्वयं प्रायश्चित्त के रूप में वृद्ध च्यवन को वरण करती है। सुकन्या के इस आचरण से प्रभावित हो, आश्विनकुमार च्यवन को वार्द्धक्य मुक्त

करते हैं। अन्त में दोनों ही सरस जीवन व्यतीत करते हैं। भारतीय नारी कितनी कृतज्ञ और मानवीय भावों से भरी हुई है, इसका यह आख्यान सुन्दर रूप प्रस्तुत करता है।

वशिष्ठ विश्वामित्र दोनों ही प्रागैतिहासिक युग के ऋषि हैं। विश्वामित्र क्षत्रियत्व से ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के लिए लालायित थे; किन्तु वशिष्ठ द्वारा उन्हें अंगीकार नहीं किया जाता है। बाद में विश्वामित्र घोर तपस्या कर ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लेते हैं।

रात्रि उत्पत्ति कथा—यम की मृत्यु के उपरान्त उसकी बहन यमी सदा रोया ही करती थी। देवताओं के अनेकशः पूछने पर वह सदा यही उत्तर देती थी कि यम आज ही मरा है। देवताओं ने यमी के दुःख-निवारण के लिए ही रात्रि निर्मित की, जो कि आज भी मानवों को ही नहीं प्राणिमात्र को सुख एवं शान्ति का दान करती है। यह कथा **कृष्ण यजुर्वेदीय मैत्रायणी ब्राह्मण** में निबद्ध है। मैत्रायणी ब्राह्मण में ही पंख सहित पर्वत की उत्पत्ति की कथा भी है। प्रजापति के प्रथम पुत्र 'पर्वत' थे। इनके पंख थे। पृथ्वी भी चलायमान थी। इन्द्र ने पर्वतों का पक्षच्छेद किया, क्योंकि उड़ने वाले पर्वतों से जन-जीवन एवं कृषि आदि की क्षति होती है। पक्षच्छेदन के समय से पर्वत एवं पृथ्वी स्थिर हो गए। छिन्न पक्ष ही मेघ हैं जो पर्वतों की ओर सदा बढ़ा करते हैं।

एक उपाख्यान में **सोम की चोरी** करने के लिए वाक् से अनुरोध किया जाता है। सोम स्वर्ग में था। गायत्री एक पक्षी के रूप में जाकर उसे उठा लाती है। किन्तु लाते समय गन्धर्व उसकी चोरी कर लेते हैं। देवता अन्त में स्त्री के माध्यम से उसे लाने का प्रयास करते हैं; क्योंकि गन्धर्व स्त्रियों के प्रेमी होते हैं। वाणी को इस कार्य के लिए प्रेरित किया जाता है। वाणी गन्धर्वों के पास जाकर सोम लाती भी है। इस उपाख्यान में वाक् को एक स्त्री के आदर्श का प्रतिनिधि बताया जाता है। इन आख्यानों के आधार पर हम कह सकते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों के आख्यानों का उद्देश्य यज्ञ की व्याख्या या यज्ञ-महत्त्व का प्रतिपादन या नैतिक शिक्षा है।

सृष्टि सम्बन्धी समस्त कथाएं प्रजापति से संबंधित है। सृष्टि के बाद प्रजापति थक जाता है, शक्तिहीन हो जाता है। पुनश्च जब यज्ञ होता है तो वह शक्ति-सम्पन्न हो जाता है। एक अवसर पर देवगण इस यज्ञ को करते हैं तथा फिर अन्य अवसर पर स्वयं अग्नि इस यज्ञ को करता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में एक बात बड़ी विचित्र-सी लगती है। वह यह कि ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रजापति सबसे महान् देव होते हुए भी एक साधारण-सा पात्र है। उस पर व्यभिचार का दोष लगाया जाता है कि उसने अपनी पुत्री या उषा के साथ समागम किया है। उसको इस पाप की सजा देने के लिए देवों ने रुद्र को बनाया। रुद्र ने उसे वाण से छेदा तब मृगशिर नक्षत्र तथा अन्य नक्षत्र समूहों की सृष्टि हुई। ब्राह्मण ग्रन्थों में सृष्टि सम्बन्धी अनेक कथाएं हैं, पर उनमें परस्पर विरोध है। **'अग्नि होत्र**

कथा' सृष्टि की उत्पत्ति दूसरे प्रकार से बताती है। शतपथ में ही अन्यत्र वर्णन है कि सर्वप्रथम प्रजापति ने पक्षी बनाए, फिर रेंगने वाले छोटे-छोटे प्राणी बनाए; पर बनने के बाद वे सब नष्ट हो गए। इसका कारण भोजन का अभाव माना गया। इसके उपरान्त उसने ऐसे जीव बनाए जो स्तन्यपायी थे। उन्हीं से इस सृष्टि का विकास हुआ है। शतपथ में एक स्थान पर ऐसा भी लिखा है कि प्रजापति ने प्राणियों को अपने अंगों से उत्पन्न किया। मस्तिष्क से मनुष्य, आंख से अश्व, श्वास से गाय, कान से भेड़, शब्द से बकरा बनाया गया। मस्तिष्क से उत्पन्न मनुष्य की प्राणिमात्र में प्रधानता स्वतःसिद्ध हो जाती है। इस प्रकार से सृष्टि की उत्पत्ति संबंधी अनेक कथाएं इन ब्राह्मण ग्रंथों में हैं, जिसमें भारतीय विचारधारा के विकास की गाथा निहित है। अनेक आख्यान रहस्यात्मक हैं। याज्ञिक व्याख्याओं को स्पष्ट करते हुए तात्कालिक धार्मिक एवं सामाजिक चित्र प्रस्तुत होते हैं। इन व्याख्याओं का अभिप्राय क्या है? यह विषय पर्याप्त विवादास्पद रहा है। वैदिक व्याख्याकारों की दृष्टि में ये आख्यान रहस्यवादी हैं। इन आख्यानों को समाज-शास्त्रीय निष्कर्ष पर देखने पर हम कह सकते हैं कि याज्ञिक क्रियाकाण्डों को सर्वसुलभ सर्वज्ञेय बनाने के साथ-साथ नैतिकता का उपदेश देना इसका प्रधान उद्देश्य रहा है। इन आख्यानों का उद्देश्य मानव को मानवता की शिक्षा देना, राष्ट्र-मंगल की कामना, आचार-विचार परिशुद्धि, ईश्वर में आस्था तथा नैतिकता का दुःखदायी परिणाम प्रदर्शन आदि है। ऋषि तथा मुनियों ने तपःपूत हो, जो आचार एवं निष्ठा प्रदर्शित की, यज्ञ संस्थाओं का निर्माण किया; वह सभी मानव कल्याण के लिए था। भावी सन्तान इन्हीं उच्चादर्शों एवं भावनाओं से युक्त हो, जीवन में प्रतिष्ठा प्राप्त करे, यही शिक्षा एवं विशेषता इस आख्यान साहित्य की निधि है।

संहिता और ब्राह्मणों की तुलना

संस्कृत वाङ्मय में सर्वप्रथम जिन ज्ञानराशि का उदय एवं संकलन हुआ, उनका नाम संहिता है। संहिताओं का परवर्ती साहित्य से पार्थक्य स्वाभाविक एवं युक्तिसंगत है, क्योंकि संहिता काल में मानव प्रकृति प्रेमी था तथा मानव जाति अथवा मानवता सांसारिक बंधनों की ओर इतनी उन्मुख नहीं हुई थी; किन्तु परवर्ती साहित्य के उदय काल में मानवीय भावनाओं में पर्याप्त विकास हुआ, इसलिए इस काल के निर्मित ब्राह्मण साहित्य तथा संहिताओं में स्वल्प अन्तर मिलता है। संहिता काल में ऋषियों की निसर्गस्वभाव-सुलभ-बुद्धि है तो ब्राह्मण साहित्य में ब्राह्मणों द्वारा याज्ञिक विधि-विधानों में अपने को भूसुरत्व दिलाने की भावना प्रबल है, अपने लिए दान-दक्षिणा के विधान हैं। कुछ अस्वाभाविकता एवं भावनाओं में जटिलता भी है।

संहिता एवं ब्राह्मण साहित्य में प्रथम मौलिक अन्तर यह है कि अधिकांश संहिता भाग (कृष्ण यजुर्वेद तथा अथर्व के कुछ अंश को छोड़कर) छन्दोबद्ध हैं तो दूसरी ओर समग्र ब्राह्मण साहित्य गद्य में निहित है। विषय-वस्तु की दृष्टि से

संहिता साहित्य में देवताओं की स्तुति है। विशेषतः ऋग्वेद में देवताओं का प्राधान्य है; उन्हीं की प्रशंसा है। सामवेद में वैदिक देवताओं का उच्च स्वर से यज्ञ के अवसर पर आह्वान है। यजुर्वेद में कर्मकाण्ड एवं यज्ञों के महत्त्व की प्रतिष्ठा है। अथर्ववेद में लौकिकता का खुला साम्राज्य है, जिसके सामने अन्य सभी भावभूमियां धूमिल पड़ जाती हैं। अथर्ववेद में रोग-निवारक भैषज्य सूक्त हैं, प्रेम-विवाह एवं गृहस्थ धर्म की प्रतिष्ठा तथा प्रशंसा है, राज्य-शासन युद्ध-संचालन, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि लौकिक विषयों का पल्लवन है। किन्तु ब्राह्मण साहित्य की विषय-वस्तु में याज्ञिक क्रियाओं की ही प्रधानता है, विधि अर्थवाद, निन्दा, प्रशंसा, निर्वचन, पुराकल्प आदि विषयों की विनियोजना है। विधि के अन्तर्गत यज्ञ-यागादि कब, कैसे, क्यों एवं कहां आदि के समाधान हैं तथा यज्ञ के साधनभूत विविध उपकरण, यज्ञ आदि का विवरण है। यज्ञ के अधिकारी-अनधिकारी का निर्णय, यागनिषिद्ध वस्तु की निन्दा तथा यज्ञोपयोगी द्रव्यों की प्रशंसा है। संयुक्तिक विधि विधान है। जहां कल्पना की अपेक्षा तर्क की मान्यता है। आशय यही है कि यज्ञ से ही सम्बद्ध विषयों की ब्राह्मण ग्रन्थों में उपस्थापना है। इस प्रकार यदि संहिताओं में स्तुति एवं प्रार्थना की प्रधानता है तो ब्राह्मण ग्रन्थों में याज्ञिक विधि-विधान का प्राधान्य। श्री बलदेव उपाध्याय ने ठीक ही लिखा है, “ब्राह्मणों में विधि ही वह केन्द्र बिन्दु है जिसके चारों ओर निरुक्ति, स्तुति, आख्यान तथा हेतु-वचन आदि विविध विषय अपना आवर्तन पूरा किया करते हैं”। एक बात और यह भी है कि संहिता-साहित्य में यज्ञ का स्थान गौण है तो ब्राह्मण-साहित्य में चरम विकसित है। संहिताओं के देवताओं को यहां गौण स्थान प्राप्त है।

अन्य आधारों पर भी यदि हम परीक्षण करें तो दोनों साहित्यों में भेदक तत्त्व इस प्रकार देख सकते हैं। वैदिक संहिताएँ **सुदूर अतीत** की रचनाएँ हैं तो ब्राह्मण साहित्य परिपक्व विचारों से युक्त विकसित काल की कृतियाँ। **स्थान** के विचार से संहिताएँ सरस्वती नदी एवं सिन्धु सप्तक के तट पर बनी थीं तो ब्राह्मण साहित्य का सृजन ब्रह्मावर्त में हुआ था। संहिताओं के **काल** में वैदिक ऋषि प्राकृतिक शक्तियों में देवत्व की प्रतिष्ठा कर उनकी उपासना करते हैं। ये वैदिक देव शारीरिक रचना में तो मानवीय होते हुए भी छायात्मक हैं। ऋग्वेद में तो बहुदेववाद की प्रतिष्ठा है तो ब्राह्मण साहित्य में यज्ञ एवं प्रजापति को महत्त्व प्राप्त है। प्रजापति ही इस काल में परमात्मा के पद पर प्रतिष्ठित है। संहिताकाल में जो वर्णाश्रम व्यवस्था विकसित हो रही थी, उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है।

इस प्रकार हमें दोनों साहित्यों में पार्थक्यबोधक कुछ तत्त्व मिल जाते हैं तथापि “**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**”, “**मन्त्रब्राह्मणात्मको वेद**” ही वैदिक साहित्य है। संहिताओं की व्याख्या एवं परिशिष्ट ब्राह्मण-ग्रन्थ है। ब्राह्मणों का अन्तिम भाग आरण्यक, आरण्यक का अन्तिम भाग उपनिषद है। इस प्रकार समग्र वैदिक साहित्य परम्पराश्रित है।

अध्याय—5

आरण्यक एवं उपनिषद्

ब्राह्मण ग्रन्थों के परिशिष्ट 'आरण्यक' साहित्य का वैदिक साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। आरण्यक उस साहित्य को कहा जाता है, जिनका अध्ययनाध्यापन नगरों और ग्रामों से दूर अरण्य में होता था—

अरण्याध्यनादेतद् आरण्यकमितीयते ।

—तै.आ.भा., श्लोक 6

किसी-किसी विद्वान् के अनुसार यदि आरण्यकों का अध्ययनाध्यापन उचित रूप में न हो तो वह हानिकर भी होता है। विण्टरनिट्ज आरण्यकों पर विचार करते हुए लिखते हैं—

These texts comprised everything which was a secret. Uncarmy character, and skilt danger to the uninitiated and which, far that reason, might only be taught and learnt in the forest, and not in the village.

आरण्यकों का प्रधान विवेच्य विषय यज्ञानुष्ठान के विधि नियमों की व्याख्या करना न था अपितु यज्ञों के गूढ़ और लाक्षणिक विवेचन के साथ-साथ पुरोहित वर्ग की विचारधारा की दार्शनिकता के पुट के साथ प्रतिष्ठित करनी थी। आरण्यकों में प्राणविद्या की भी महिमा विशेष रूप से गाई गई है। काल के पारमार्थिक और व्यावहारिक रूप का विवेचन तैत्तिरीय आरण्यक में किया गया है। इसी आरण्यक में ऋतुओं के रूप का भी वर्णन किया गया है।

आरण्यक एवं उपनिषद् साहित्य परस्पर इतने संश्लिष्ट हैं कि इनकी पृथक् सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती है। इन ग्रन्थों को वेदान्त भी कहा जाता है क्योंकि इन ग्रन्थों का वैदिक साहित्य में सबसे अन्त में स्थान है और उपनिषद् तथा आरण्यक परस्पर संश्लिष्ट हैं, उदाहरण के लिए—ऐतरेय आरण्यक में ऐतरेय उपनिषद् संश्लिष्ट है। इनका आधार-ग्रन्थ ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण है। ऋग्वेदीय कौषीतकी ब्राह्मण का अन्तिम भाग कौषीतकी आरण्यक है। कौषीतकी उपनिषद् इसी आरण्यक का ही एक अंश है। कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण से तैत्तिरीय आरण्यक तथा तैत्तिरीय उपनिषद् एवं महानारायणोपनिषद् परस्पर सम्बद्ध हैं। शुक्ल यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण के चौदहवें काण्ड का तृतीय भाग एक आरण्यक ही है। इसी के अन्त में वृहदारण्यक उपनिषद् संलग्न है। सामवेदीय ताण्ड महाब्राह्मण के आरण्यक का प्रथम अध्याय ही छान्दोग्योपनिषद् है। सामवेदीय जैमिनीय शाखा से सम्बन्धित जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण एक आरण्यक है। इसी का एक भाग केनोपनिषद् अथवा तवत्कारोपनिषद् है। तैत्तिरीय आरण्यक से सम्बद्ध महानारायणोपनिषद् के अतिरिक्त अन्य सभी से ये उपनिषदें

प्राचीन हैं तथा आरण्यकों से सम्बद्ध हैं। भाषा एवं शैली की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों के समान ही हैं।

विषय-वस्तु

आरण्यक साहित्य का विशिष्ट विषय प्राणविद्या है। इसकी साधना एकान्त एवं शान्त वातावरण में होती है। प्राणविद्या आरण्यक साहित्य की अपनी मौलिक उद्भावना नहीं है। इस विद्या का मूल ऋग्वेद के मन्त्रों (1/168, 31, 38) में मिलता है; अतः इस विद्या का महत्त्व तथा उसकी प्राचीनता स्वयंसिद्ध है। प्राण विश्व को धारण करता है। प्राण की शक्ति से मानो यह आकाश स्थिर है और महान् प्राणी से लेकर छोटे से छोटे प्राणी तक इस प्राण द्वारा विधृत है—

सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धाः, तदायमाकाशः प्राणेन बृहत्या बिष्टब्ध एवं सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या बिष्टब्धानीत्येतं विद्यात्। (ऐत. आर. 2/1/6)

यह सम्पूर्ण जगत् प्राण से आवृत है “सर्वं हीदं प्राणेनावृतम्”। प्राण विश्व का धारक तथा रक्षक है। वह आयु कारण है—यावद्धीयस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः। (कौषीतकी उपनिषद् 1/2) ऐतरेय आरण्यक में प्राण के विभिन्न गुणों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—‘प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्च। अन्तरिक्षं वा अनुचरन्ति। अन्तरिक्षमनुशृण्वन्ति। वायुरस्मै पुष्प गन्धमावहति। एकमेतौ प्राणपितरं परिचरतोऽन्तरिक्षं च वायुश्च; अर्थात् प्राण ही अन्तरिक्ष तथा वायु का सृष्टा है। प्राण पिता है। अन्तरिक्ष और वायु उसकी सन्तान है।

ऐतरेय आरण्यक के अनुसार प्राण देवता है। वाग् में अग्निदेव का आवास है, चक्षु सूर्य है, मन इन्द्र है, कर्ण दिशाएं हैं। प्राण में इन सभी देवों की भावना करनी चाहिए।

प्राण को ऋषि भी माना है। श्री बलदेव उपाध्याय लिखते हैं कि ऋग्वेद के मन्त्रों के द्रष्टा अनेक ऋषि कहे गये हैं। इन सब ऋषियों की भावना प्राण में करनी चाहिए, क्योंकि प्राण ही इन मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के आकार में विद्यमान है। प्राण ही शयन के समय वाग्, चक्षु आदि इन्द्रियों के निवारण करने के कारण ‘गृत्स’ कहलाता है और रति के समय में वीर्य के विसर्गजन्य मद उत्पन्न करने के कारण अपना ही ‘मद’ हुआ। अतः प्राण और अपान के संयोग को गृत्समद कहते हैं। प्राण ही विश्वामित्र है क्योंकि इस प्राण देवता का यह समस्त विश्व भोग्य होने के कारण मित्र है। (विश्व मित्र यस्य असौ विश्वामित्रः) प्राण को देखकर वागभिमानि देवताओं ने कहा, “यही हम में वाम” भजनीय, सेवनीय है, क्योंकि यह हम में श्रेष्ठ है। इसी हेतु देवों में ‘वाम’ होने से प्राण ही वामदेव है। प्राण ही अत्रि है क्योंकि इस प्राण ने ही समस्त विषय को पाप से बचाया है (सर्वं पाप्मनोऽत्रायत इति अत्रिः) प्राण ही भरद्वाज है। गतिसम्पन्न होने से मनुष्य की देह को ‘वाज’ कहते हैं। प्राण इस शरीर में प्रवेश कर उसकी रक्षा सतत

किया करता है। अतः वह प्राण 'विभ्रद्वाज' है। इसी कारण वह भरद्वाज है। देवताओं ने प्राण को देखकर कहा था कि तुम वशिष्ठ हो, क्योंकि इस शरीर में इन्द्रियों के निवास करने के प्राण ही हैं। प्राण ही सबसे बढ़कर वास या निवास का हेतु है। अतः वह वशिष्ठ हुआ। इन निर्वचनों से यही सिद्ध होता है कि प्राण ही ऋषि रूप है। अतः प्राण में इन ऋषियों की भावना करनी चाहिए तथा तद्रूप उपासना करनी चाहिए।”

प्राण के विषय में ऐतरेय आरण्यक का कहना है कि जितनी ऋचाएं, वेद और घोष हैं, वे सब प्राणमय हैं; अतः उपास्य भी हैं—

**सर्वाऋचः सर्वेवेदाः सर्वे घोषा एकैव व्याहृतिः
प्राण एव प्राण ऋच इत्येवं विद्यात्। (2/2/10)**

ऐतरेय आरण्यक ऋग्वेद का महत्त्वपूर्ण आरण्यक है। इस आरण्यक में विद्वान् पांच आरण्यकों को संश्लिष्ट मानते हैं। इसके प्रथम आरण्यक में महाव्रत, द्वितीय में उक्थ, शास्त्र, प्राणविद्या तथा पुरुष का विवेचन है। तृतीय में संहिता, पद, क्रमपाठ, स्वर तथा व्यंजन के स्वरूप का विवेचन है। इन आरण्यकों में से प्रारम्भिक तीन आरण्यकों के रचयिता ऐतरेय हैं। चतुर्थ के आश्वलायन हैं, यह एक छोटा-सा आरण्यक है। पांचवे के रचयिता शौनक हैं—इसमें निष्कैवल्य शास्त्र का वर्णन है।

ऋग्वेद का दूसरा आरण्यक शांखायन है। इसकी विषय-वस्तु ऐतरेय के समान ही है। इसमें पन्द्रह अध्याय हैं। शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध एक वृहदारण्यक भी है। इसमें आत्मतत्त्व का विवेचन है, अतः इसे विद्वान् उपनिषद् भी मान लेते हैं। इसी प्रकार कृष्णयजुर्वेदीय मैत्रायणीय शाखा का एक आरण्यक है, उसे भी विद्वान् मैत्रायणीय उपनिषद् कहते हैं। तैत्तिरीय आरण्यक महत्त्वपूर्ण आरण्यक है। इसमें दस प्रपाठक हैं, जिनमें अग्नि उपासना, स्वाध्याय तथा महायज्ञों का विस्तार से विवेचन है। सामवेद से सम्बद्ध तवलकार आरण्यक है। यह चार अध्याय की रचना है। अथर्ववेद का कोई आरण्यक उपलब्ध नहीं है।

आरण्यक साहित्य महान् आध्यात्मिक तत्त्वों की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इस साहित्य में उपलब्ध विचारधारा का व्यापक विवेचन उपनिषद् साहित्य में मिलता है। आरण्यक साहित्य को ब्राह्मण ग्रन्थ एवं उपनिषद् साहित्य के मध्य की कड़ी मानना नितान्त आवश्यक है। “आरण्यकों का स्थान ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों के बीच है और जैसा कि उनका नाम संकेत करता है, आरण्यक उन पुरुषों के मनन एवं चिन्तन के विषय थे जो वनों में रहते थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में उन कर्मकाण्डों का विवेचन है, जिनका विधान गृहस्थ के लिए था; किन्तु वृद्धावस्था में जब वनों का आश्रय लेता है तो कर्मकाण्ड के स्थान में किसी और वस्तु की उसे आवश्यकता है और आरण्यक उसी विषय की पूर्ति करते हैं। याज्ञिक सम्प्रदाय के सांकेतिक एवं धार्मिक पक्षों पर मनन व चिन्तन किया गया है और यह मनन ही यज्ञ की विधि में परिणित हुआ है। आरण्यक एक प्रकार से

ब्राह्मणों में निहित कर्मकाण्डों एवं उपनिषदों के दार्शनिक ज्ञान के मध्यवर्ती की शृंखला के रूप में है।”

उपनिषद् साहित्य

वैदिक साहित्य में उपनिषदें सबसे अर्वाचीन साहित्य के रूप में मानी जाती हैं। वैदिक साहित्य एवं इस साहित्य में कुछ मौलिक अन्तर है। केवल स्वल्प अन्तर ही है, इससे यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि उपनिषदें वेदों का वैदिक विचारों का अनादर करती हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि वैदिक साहित्य में एकाध स्थलों पर प्राप्त दार्शनिक विचार यहां अपने चरमोत्कर्ष में दिखलाई देते हैं। जहां वेद यज्ञ के माध्यम से मनुष्यों को शाश्वत सुख देना चाहते हैं, वहां उपनिषद्कालीन विचारों में यज्ञों से केवल नश्वर सुख ही मिल सकता है। स्वर्ग के विषय में भी उपनिषदें यह मानती हैं कि स्वर्ग सुख का भोग जीव तब तक कर सकता है जब तक उसके पूर्ण पुण्य शेष हैं। पुण्यों के क्षीण होते ही उसे जन्म लेना पड़ेगा। फिर मृत्यु होगी, जो दुःख का कारण है। उपनिषदों के अनुसार मानव का ध्येय सुख की प्राप्ति है। सुख तभी सम्भव है जब कि मानव आत्मा मृत्यु और जन्म के बन्धन से छूट जावे। कहने का आशय यही है कि औपनिषदिक विचार वैदिक विचारों के विरोधी नहीं हैं अपितु उन्हीं विचारों के समर्थक हैं; किन्तु कुछ मौलिक ढंग से।

ब्राह्मण साहित्य गार्हस्थ जीवन में होने वाले कर्मकाण्ड की व्याख्या है तो आरण्यक एवं उपनिषद् एकान्त निरवच्छन्न अरण्य में ब्रह्मचर्य से परिपूरित वानप्रस्थियों के लिए गम्भीर बौद्धिक चिन्तन है। वेद का अन्तिम अंश होने के कारण यह साहित्य वेदान्त के नाम से भी अभिहित किया जाता है। वैदिक धर्म की मूलतत्त्व प्रतिपादिका प्रस्थानत्रयी में मुख्य स्थान का अधिकारी उपनिषद् साहित्य ही है। वस्तुतः यह साहित्य आध्यात्मिक मानसरोवर है जहां से ज्ञान की निर्मल गंगा विश्व के दार्शनिकों के हृदयों को पूत करती हुई ऐहिकामुष्मिक मंगल-साधना करती हुई आज भी अजस्र रूप में प्रवाहित हो रही है।

उपनिषद् शब्द के व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह शब्द **उप+नि+सद्** धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है शिष्य का गुरु के समीप रहस्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए बैठना—To sit down near some one. इसलिए इस शब्द का अर्थ Secret Session भी किया जाता है जिसका भाव Secret Doctrine भी है। ओल्डनवर्ग इस शब्द का अर्थ A Form of Worship करते हैं, जो कि विन्टरनिट्ज की दृष्टि से भ्रामक है। भारतीय साहित्य परम्परा में उपनिषद् शब्द के लिए एक दूसरा शब्द भी मिलता है, जिसका अर्थ है **गुप्त प्रच्छन्न**। उपनिषदों में स्वयं ही यत्र-तत्र 'इति रहस्य', 'इति उपनिषद्' शब्दों का प्रयोग मिलता है। इसलिए कहीं-कहीं उपनिषदों में संकेत मिलते हैं कि ज्ञान को अपात्र व्यक्ति को नहीं देना चाहिए। छान्दोग्योपनिषद् में एक स्थान पर लिखा है कि ब्रह्मज्ञान ज्येष्ठ पुत्र तथा विश्वस्त शिष्य के

अतिरिक्त किसी अन्य को नहीं देना चाहिए, भले ही वह ससागरा वसुंधरा व रत्नों का अक्षय कोष ही क्यों न प्रदान करें। आशय यही है कि किसी अपात्र व्यक्ति को इस ज्ञान का उपदेश नहीं देना चाहिए। रहस्यमय प्रत्येक ज्ञान एवं रचना के लिए उपनिषद् शब्द का प्रयोग चिरकाल से होता आया है। सबसे बड़ी बात इस यज्ञदान में यह है कि पात्रापात्र तथा अधिकारी-अनधिकारित्व विनिर्णय को प्रधानता दी जाती है। रहस्य शब्द से विद्वानों ने दार्शनिक चिन्तन ऐन्द्रजालिक चमत्कृत करने वाले लाक्षणिक यज्ञों की अभिव्यक्ति एवं निरूपण को लिया है। उपनिषद् साहित्य में प्राप्त होने वाले ज्ञान का सर्वांगीण विवेचन करते हुए 'वैदिक साहित्य की रूपरेख' के लेखक लिखते हैं—'उपनिषदों में प्राप्त होने वाले भाव किसी एक दार्शनिक के भाव नहीं हैं; दार्शनिकों के किसी एक सम्प्रदाय के भाव नहीं हैं जिनका अन्वेषण किसी एक शिक्षा-पद्धति के अनुसार किया जा सके, वे तो विभिन्न व्यक्तियों की भावनाएँ हैं जो विभिन्न काल में विस्तार के साथ मुखरित हुईं।'

विचार करने पर हम देखते हैं कि उपनिषदों के सर्वाधिक मूल्यवान् वे विचार हैं जिनकी आधार-शिला पर औपनिषदिक दार्शनिक भवन खड़ा हुआ है। इस प्रकार के विचारों में ब्रह्म और आत्मा दो तत्त्व हैं, जिनके चारों ओर दर्शनशास्त्रियों के मन एवं कल्पनाओं ने अपना ताना-बाना बुना है। सर्वप्रथम हमें ब्रह्म एवं आत्मा का शाब्दिक अर्थ ज्ञान करना परमावश्यक है। सेन्टपीटर्स वर्ग संस्कृत शब्दकोष में हमें 'ब्रह्म' शब्द की जो व्याख्या मिलती है, वह इस प्रकार है—

The devotion which appears as the carving and fullness of the soul and strives the Gods, वह भक्ति ही ब्रह्म है जो आत्मा की लालसा एवं पूर्णता के साथ अभिव्यक्ति होती है।

भारतीय विचारधारा में ब्रह्म शब्द से अनेक अर्थ लिए जाते रहे हैं। विशेष शक्ति-सम्पन्न मन्त्र भी ब्रह्म है। त्रयी विद्या इसीलिए ब्रह्म विद्या है। ब्रह्म सृजनात्मक शक्ति भी है। ब्रह्म सृष्टि का कारण है; अतः स्वयम्भू भी वही है—

Thus the Brahman is divine principle is a conception of the priestly philosophy and quite explicable in the light of the Brahmanical views upon prayer and sacrifice.

अन्ततः भारतीय साहित्य में ब्रह्म का जो स्वरूप निर्धारित किया गया है, वह सच्चिदानन्द स्वरूप है।

विद्वानों ने अन् प्राणने धातु से आत्मन् शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाई है जिसका अर्थ है—विश्वास तथा अहम्। कुछ भी सही, भारतीय साहित्य में आत्मा शब्द दार्शनिक अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। उपनिषदों में ब्रह्म और आत्मा के रूप परस्पर एकाकार हो गए हैं। शांडिल्य ने आत्मनिरूपण-प्रसंग में छन्दोग्योपनिषद् में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं। "आत्मा अन्तःकरण के अन्तस्तल से भी सूक्ष्म, तण्डुल के कण से भी लघु और यव खण्ड से भी लघु

है। यही आत्मा हृदय में भूमण्डल से विशाल, अन्तरिक्ष तथा परिधि से भी विशाल है। आत्मा से ही क्रियाकलाप इच्छाएं, सुगंधि तथा स्वाद की अनुभूति होती है। आत्मा ही ब्रह्म है और किसी भी प्रकार के आत्मज्ञान के हेतु उपनिषद् ग्रंथों की ज्ञानराशि सबसे दृढ़ ज्ञानशिला कही जा सकती है।”

ब्रह्म ही वह शक्ति है जो प्रत्येक पदार्थ में भौतिक दृष्टि से प्रविष्ट होती है। ब्रह्म ही सृष्टि की उत्पत्ति और रक्षा करते हुए सृष्टि को अपने में लीन कर लेता है। यही नित्य दैवी शक्ति आत्मा से अभिन्न है। परवर्ती दार्शनिक ग्रंथों में यही भावधारा पल्लवित की गई है। “तत्त्वमसि” वाक्य द्वारा आत्मा और ब्रह्म का अभेद प्रतिपादन और जगत् तथा ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन मिलता है। जगत् तो मिथ्या है। इसके अस्तित्व का ज्ञान चेतन शक्ति द्वारा शरीर को क्रियाशील बनाये रहने तक ही होता है—

The worlds exists only in so far as thou thyself art conscious of it.

उपनिषदों में दार्शनिक विद्वानों ने यत्र-तत्र ब्रह्म एवं जगत् का एकत्व प्रतिपादित किया है। इस सम्बन्ध में एक कथानक है। श्वेतकेतु उद्दालक आरुणी का पुत्र था। पिता पुत्र को वेद विद्या अध्ययन के लिए गुरुगृह जाने का आदेश देता है। वह बारह वर्ष तक अपने गुरु के पास शास्त्रों का अध्ययन करता है। वहां से पारंगत होकर वह अपने को पण्डितमन्थ माना लौटता है। पिता उसकी इस स्थिति को देखकर कहता है कि “अब तुम अत्यधिक अहंकारी और ज्ञानगर्वोद्धत हो गये हो; किन्तु क्या तुमने उस सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त किया है; जिसके ज्ञान मात्र से अश्रुत श्रुत हो जाता है; अमत मत हो जाता है और अविज्ञात विज्ञात हो जाता है। जिस प्रकार एक मृत्तिका निर्मित पात्र समस्त मृत्निर्मित पात्रों के मूल हेतु के ज्ञान का आधार बन जाता है, केवल नाममात्र का भेद रहता है, जो कि वाचारम्भण मात्र ही है। वस्तुतः केवल मृत्तिका ही सत्य है। इसी प्रकार सुवर्ण ज्ञान के उपरान्त कटक और कुण्डल तो उसके विकार मात्र हैं। उनका पारस्परिक भेद केवल वाणी का विलास है। सत्य तो केवल सुवर्ण ही है। इतना सुनकर श्वेतकेतु उत्तर देता है—निश्चय ही मेरे गुरुदेव को इसका ज्ञान नहीं था, अन्यथा वे अवश्य ही मुझे इसका उपदेश देते। अतः अब आप कृपा करके बतलाइये। श्वेतकेतु अपना प्रवचन प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि प्रारम्भ में केवल अद्वितीय सत् ही था। दूसरे कुछ विद्वानों ने इस प्रसंग में असत् से सत् की उत्पत्ति का निर्देश किया है। असत् से सत् की उत्पत्ति का प्रश्न कुछ विचित्र ही है। इसलिए प्रारम्भ में एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। यह सत् ही आत्मा में सर्वदा प्रविष्ट रहता है। किसी प्राणी के मरने का अभिप्राय होता है कि वह पुनः सत् में मिल गया। जिस प्रकार एक मधुमक्खी अनेक वृक्षों, पौधों और पुष्पों का रस ला-लाकर एकत्र करती है, एकत्र रस मिलकर भेदभाव से रहित हो जाता है, उस समय यह ज्ञात नहीं होता है कि अमुक रस अमुक वृक्ष का है। इसी प्रकार मृत्यु के उपरान्त प्राणी उसी सत् सत्ता में लीन हो जाते हैं।

यही आत्मा है। इसी विचारधारा का अधिक स्पष्टीकरण गूलर के फल अथवा अन्जीर फल के द्वारा किया गया है। श्वेतकेतु पिता की आज्ञा से उस फल को तोड़ता है—तोड़कर वह उसमें अणु सदृश अनेक दाने देखता है। फिर एक दाने को तुड़वाकर आरुणि पूछते हैं। इसमें क्या है, श्वेतकेतु कहता है, कुछ नहीं। इस प्रकार आरुणि उपदेश देते हैं, जिस प्रकार फल के अणु भाग से न्यग्रोध वृक्ष की सत्ता का आभास या ज्ञान नहीं हो सकता है; किन्तु उसी अणु से उस विशाल वृक्ष की सत्ता स्थित है उसी प्रकार परमतत्त्व की सत्ता है जो कि अप्रत्यक्ष अविज्ञात होते हुए भी सर्वव्यापक है। वही तत्त्व आत्मा है। उसी आत्मतत्त्व का पुनः स्पष्टीकरण एक अन्य उदाहरण से किया गया है। पिता पुत्र को नमक देकर कहता है कि इसे जल में डालकर कल मेरे पास लाना। प्रातःकाल पिता पुत्र को उसी लवण को लाने को कहता है, जिसे कि उसने जल में डाला था। किन्तु जल में ढूँढने पर भी वह लवण प्राप्त नहीं होता है। लवण तो जल में आत्मसत्ता मिला चुका था। आरुणि कहते हैं कि लवण जल में मिल चुका है। स्थूल नेत्रों से वह दिखाई नहीं दे सकता है। यदि जानने की जिज्ञासा है तो जल का आचमन करके उसे जान सकते हैं। अन्त में आरुणि कहते हैं कि जिस प्रकार जल में विद्यमान लवण को तुम देख नहीं सकते हो, उसी प्रकार सर्वथा विद्यमान उस सत् तत्त्व को भी तुम नहीं देख सकते हो। यही वह तत्त्व है, यही वह सत्ता है, यही वह आत्मा है, यही वह ब्रह्म है। Atman is one with the universe and that everything exists only in so far as it is in the cognitive self.

कौषीतकी एवं वृहदारण्यक उपनिषद् में भी एक रोचक संवाद है—वालाकि नामक अहंकारी ब्राह्मण विद्वान काशी नरेश अजातशत्रु के पास आता है। उस ब्राह्मण से ब्रह्म जिज्ञासा के समाधान के लिए प्रार्थना की जाती है, एक के बाद एक करके वह 'पुरुष' की व्याख्या करता है कि किस प्रकार आत्मा का प्रतिबिम्ब सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, आकाश, वायु, तेज, जल आदि में है और किस प्रकार चैतन्य का प्रतिध्वनि में, शब्द में, स्वप्न में, देह में, नेत्र में, ब्रह्म के रूप में प्रतिबिम्ब है किन्तु राजा को वह किसी भी प्रकार सन्तुष्ट नहीं कर पाता है। अन्ततः ब्राह्मण राजा से उपदेश लेने का इच्छुक होता है। प्रार्थना किये जाने पर राजा इस प्रकार ब्रह्म जिज्ञासा का समाधान करता है—ब्रह्म को आत्मा में और पुरुष में ही देखा जा सकता है, जिस प्रकार मकड़ी अपना जाला स्वयं अपने ही तन्तुओं से बुनती है; जिस प्रकार अग्नि से चिनगारी स्वतः ही सर्वतः विकीर्ण होती है; ठीक उसी प्रकार आत्मा ही वायु पंचक को, अखिल ब्रह्माण्ड को, देवगण और प्राणी मात्र को उत्पन्न करता है। सृष्टि के विषय में उपनिषदों का यह मत है कि वह क्षिति, जल, पावक, गगन और वायु—इन पांच तत्त्वों से बनी हुई है। इन पांच तत्त्वों का स्वामी महत् है, जिनमें ये पांचों तत्त्व विद्यमान रहते हैं। काल पाकर यह महत्तत्त्व (जिसे हम प्रकृति या मूल तत्त्व भी कह सकते हैं) फैलने लगता है। महत्तत्त्व के इसी फैलाव को हम सृष्टि का जन्म, रचना और

विकास कहते हैं। फिर एक समय आता है जब यह फैलाव सिमटने लगता है। इसी प्रक्रिया को सृष्टि का विनष्ट होना या प्रलय कहते हैं। इस बात को समझने के लिए उपनिषदों को मकड़े की जाली की उपमा दी गई है। मकड़े के भीतर से जाली निकल कर चारों ओर छा जाती है। यही सृष्टि का बनाना है। फिर वह जाली सिमटकर मकड़े के भीतर चली जाती है। यह सृष्टि का विनष्ट होना है। अब प्रश्न उठता है कि वह मकड़ा प्रकृति है या ब्रह्म। सृष्टि की रचना ब्रह्म करता है या वह आप से आप है। इस प्रश्न का उत्तर उपनिषदों ने दो प्रकार से दिया है। एक तो यह कि यह मकड़ा ब्रह्म ही है और उसी के भीतर से सृष्टि प्रकट होती है। दूसरा यह कि मकड़ा असल में प्रकृति के मूलतत्त्व अथवा महत्तत्त्व की उपमा है। ब्रह्म सृष्टि की रचना नहीं करता। सृष्टि इस महत्तत्त्व से निकलती है और उसी में वापस भी चली जाती है।

छान्दोग्योपनिषद् में प्रजापति देव और दानवों को **अमरतत्त्व** का उपदेश देते हैं, “आत्मा जन्म, मरण, चिन्ता, पाप, पुण्य आदि के बन्धनों से मुक्त है। उसकी इच्छाएं और विचार सत्य हैं। हमें आत्मा की खोज करनी चाहिए। जो इस आत्मा को जान लेता है, उसे तीनों लोक मिल जाते हैं। उसकी सारी इच्छाएं पूरी हो जाती हैं। “इतना सुनने के पश्चात् देव और दानव इस आत्मा तत्त्व के ज्ञान के लिए उत्सुक होकर प्रजापति से प्रार्थना करते हैं। प्रजापति दोनों वर्गों में से एक-एक व्यक्ति इन्द्र और विरोचन को चुनते हैं। दोनों ही जिज्ञासु बनकर बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। प्रजापति दोनों से इस साधना का कारण पूछते हैं। दोनों ही आत्मतत्त्व को सर्वाशतः जानने की अभिलाषा व्यक्त करते हैं। प्रजापति सर्वप्रथम उपदेश देते हैं, जो पुरुष नेत्रों से दीखता है, वही आत्मा है, यही भूमासंज्ञक है। विरोचन इस उत्तर से सन्तुष्ट होकर दानवों में घोषणा करता है कि शरीर ही आत्मा है, यही सेवनीय है, इसी की रक्षा और पालन करना चाहिए। इन्द्र इस व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं होता है। पुनः वह बत्तीस वर्ष साधना करता है। उस समय—प्रजापति पुनः उपदेश देते हैं कि जो आत्मा प्रसन्नता से स्वप्नों में विचरण करती है, वही आत्मा है। यह अमर और भय रहित है। इसी का नाम ब्रह्म है; किन्तु इस व्याख्या से भी इन्द्र सन्तुष्ट नहीं होता है। पुनः वह बत्तीस वर्ष व्यतीत करता है। इस बार प्रजापति कहते हैं कि—स्वप्न-रहित प्रगाढ़ निद्रा में रहने वाली आत्मा ही सच्ची आत्मा है, किन्तु इन्द्र इससे भी सन्तुष्ट नहीं होता है। प्रजापति पांच वर्ष और तप करने का आदेश देते हैं। इसके बाद वास्तविक आत्मा का इस प्रकार निरूपण करते हैं—

“यह शरीर नाशवान् है। इस पर मृत्यु विजयी होती है। वह अमृत अशरीरी आत्मा का निवास-स्थान है। यहां रहकर शरीरी आत्मा दुःखी भी होती है और सुखी भी; किन्तु जब शरीर नष्ट हो जाता है तो पुनः आत्मा सुख-दुःख से मुक्त हो जाती है। शरीर का प्रत्येक अंग जो भी कार्य करता है, वह उसी आत्मा का प्रतिनिधि बनकर करता है। जैसे मैं देखता हूँ, सुनता हूँ, बोलता हूँ, विचार

व्यक्त करता हूँ—इन सभी इन्द्रियों के व्यापारी से जो सन्तोष होता है, वह आत्मा का ही सन्तोष है।

वृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद में आत्मा की अखण्डता, अद्वितीयता, एकरसता, सर्वव्यापकता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। याज्ञवल्क्य तपस्या करने के उद्देश्य से बन जाना चाहते हैं। वन गमन से पूर्व वे अपनी दोनों पत्नियों को बुलाकर धन का बंटवारा करना चाहते हैं। इस समय मैत्रेयी प्रश्न करती है कि यदि समस्त वसुंधरा की सम्पत्ति मुझे मिल जाये तो क्या मैं अमर हो सकती हूँ। याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं—नहीं; “सम्पत्ति प्राप्त कर तुम अमर नहीं हो सकतीं। सम्पत्तिवान् पुरुषों की भांति जीवन अवश्य व्यतीत हो सकता है। किन्तु अमरत्व प्राप्त नहीं हो सकता है। मैत्रेयी पुनः कहती है कि मुझे सम्पत्तिदान की अपेक्षा उस तत्त्व का ज्ञान दान कीजिए जिससे मैं अमरत्व प्राप्त कर सकूँ। इस समय याज्ञवल्क्य अमरत्व प्राप्त करने का उपदेश देते हैं—पति-पत्नी के लिए प्रिय नहीं होता अपितु अपने लिए प्रिय होता है। पत्नी पति के लिए प्रिय नहीं होती अपितु अपने लिए प्रिय होती है। पुत्र, पुत्र के लिए प्रिय नहीं होता अपितु अपने स्वार्थ के लिए प्रिय होता है; लोक-लोक के लिए प्रिय नहीं होता अपितु अपने लिए प्रिय होता है। देवताओं के सुख के लिए देवता प्रिय नहीं होते अपितु अपने सुख के लिए देवता प्रिय होते हैं, इसलिए आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए “आत्मा वाऽऽरेज्ञातव्य, मन्तव्य, निदिध्यासितव्यः” मैकडानल ने इसी स्थल को लक्ष्य कर कहा है कि मानवीय चिन्तन के इतिहास में सर्वप्रथम वृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म अथवा पूर्णतत्त्व को ग्रहण करके उसकी यथार्थ अभिव्यंजना हुई है।

उपनिषदों से आत्मा की पवित्रता को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। इस संबंध में ‘उपनिषदों’ का विचार है कि जैसे आकाश सर्वत्र फैला हुआ है। (आदमी, जानवर, पर्वत, नदी, वृक्ष, यहां तक कि एक-एक अणु के बाहर ही नहीं, बल्कि उसके भीतर भी आकाश है) उसी प्रकार ब्रह्म की सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। आत्मा और परमात्मा को उपनिषदें एक मानती हैं। जब कुम्हार एक घड़ा बनाता है, तब आकाश का एक खण्ड उस घड़े में भी व्याप्त हो जाता है। घड़ा शरीर और घड़े के भीतर व्याप्त आकाश ही आत्मा है। जब घड़ा फूट जाता है। (यानी जब आदमी का शरीर छूट जाता है) तब उसमें बंधा हुआ आकाश फिर बड़े आकाश में मिल जाता है। जिस घड़े आकाश कर्म की गन्ध से दूषित है, उस आकाश-खण्ड (आत्मा) को फिर किसी दूसरे घड़े में समाना पड़ेगा (यानी पुनर्जन्म लेना पड़ेगा)। मगर, जिस घड़े का आकाश निर्मल है (अर्थात् जिस मनुष्य की आत्मा निर्मल है) उस घड़े के फूट जाने पर उसका आकाश फिर घड़े में वापस नहीं आता अर्थात् निर्मल मनुष्य की आत्मा पुनर्जन्म के बन्धन में नहीं पड़ती?” उपनिषदें कहती हैं कि कर्मफलवाद का सिद्धान्त यथार्थ है। मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार फल को प्राप्त करता है। कर्मों के अनुरूप उन्हें भोग भोगने पड़ते हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने कर्म को सुधारे। अच्छे

कर्मों से अगला जन्म अच्छा होगा, उस जन्म में भी पवित्र कर्मों के अनुष्ठान से फिर अगला जन्म अच्छा होगा। इस प्रकार जन्म-जन्मान्तर तक साधना के अनुष्ठान से मानव मुक्ति को प्राप्त हो जाएगा। इस प्रकार का उपनिषदों का एक यह सिद्धान्त पुनर्जन्मवाद या कर्मफलवाद का भी है।

उपनिषदों में आत्मा के अनेक नामों में से एक प्राण भी है। छान्दोग्योपनिषद् में कथा आती है कि इन्द्रियों में परस्पर श्रेष्ठ कौन है? इस विषय में प्रतिस्पर्द्धा-सी होने लगी। इन्द्रियां एवं प्राण अपने-अपने को श्रेष्ठ बताने का दावा करने लगे। अपनी समस्या के समाधान के लिए दोनों ही प्रजापति के पास जाते हैं। प्रजापति कहते हैं कि तुम में से जिसके अभाव में शरीर नष्ट हो जाये वही श्रेष्ठ है। क्रमशः इस परीक्षण के लिए वाणी, नेत्र, श्रवण आदि इन्द्रियां शरीर का परित्याग कर जाती हैं; किन्तु इनमें से एक के अभाव में भी शारीरिक क्रियाएं चलती रहती हैं। अन्त में प्राण ने निकलने का जैसे ही प्रयास किया, तत्क्षण समस्त इन्द्रियों को व्याकुलता होने लगी। इस स्थिति में इन्द्रियां प्राण से प्रार्थना करती हैं कि आप हमें त्याग कर न जाइए आप ही हम सभी से श्रेष्ठ हैं। इसीलिए प्राण को आदरसूचक बहुवचनान्त "प्राणाः" शब्द से पुकारा जाता है। एक और बात यह भी है कि समस्त इन्द्रियों को वाक्, चक्षु, श्रोत्र आदि नहीं कहा जाता है। अपितु समष्टि रूप से उन्हें प्राण कहते हैं। उपनिषद् साहित्य के अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुंच जाते हैं कि आत्मा एवं प्राण के सैद्धान्तिक तत्त्व परस्पर संश्लिष्ट हैं। वैदिक ऋषियों ने इन दोनों तत्त्वों के ऊपर मनोरम कविताओं की सृष्टि की है। अनेकशः अपनी भावाभिव्यक्ति की है। वृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मा के पुनर्जन्म सिद्धान्त पल्लवन हुआ है। पाप-पुण्य की भावना भी इसीलिए भारतीय धर्म में प्रमुख स्थान बनाये हुए है। नैतिक तत्त्वों का उदय भी उपनिषदों की एक अपनी विशेषता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में गुरु-शिष्य को अतीव मार्मिक शिक्षा देता है। सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय से प्रमाद न करो, कुछ इसी प्रकार के नैतिक उपदेश हैं जो समाज एवं धर्म के लिए नितान्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। वृहदारण्यकोपनिषद् में एक सुन्दरतम नीति कहानी मिलती है। प्रजापति की तीनों सन्तान देव, मानव एवं दानव ब्रह्मचर्यपूर्वक प्रजापति के शिष्य बने। सर्वप्रथम देव, जिज्ञासु भाव से प्रजापति के पास आते हैं। प्रजापति ने "द" वर्ण का उच्चारण किया और पूछा कि तुमने इसका क्या अभिप्राय समझा? देवताओं ने बताया कि "द" से आपका अभिप्राय "दाम्यत" से है जिसका अर्थ है कि अपना दमन करो। इसके पश्चात् मानव जिज्ञासुभाव से उपस्थित हुआ। प्रजापति ने पुनः "द" वर्ण का उच्चारण किया और पूछने पर मनुष्यों ने बताया कि इससे आपका अभिप्राय "दत्त" में है अर्थात् दान करो। तत्पश्चात् दानव भी प्रजापति के सम्मुख शिष्यत्व भावापन्न होते हैं, उन्हें भी "द" का उपदेश किया जाता है जिसका अर्थ वे 'दयध्वम्' समझते हैं। प्रजापति ने अपनी तीनों सन्तानों के अभिप्राय को ठीक बतलाया। इस प्रकार उपनिषद् में मानवीय नैतिक तत्त्वों का भी पूर्ण उपदेश किया गया है।

उपनिषदों के अनुसार जीवन का महान् उद्देश्य ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त करना है और यह अज्ञान के नाश होने पर ही संभव है। जिसने ब्रह्म व आत्मा की एकता को जान लिया है, वही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इसके लिए कर्मसंन्यास आवश्यक है। यज्ञादि पुनर्जन्मवाद के समर्थक हैं। किन्तु केवल सत्य ज्ञान ही मुक्तिदाता है। जो इस सिद्धान्त को जानता है; वह 'पद्मपत्रमिवाम्भसः' कमल का पत्ता जिस तरह से जल से ऊपर रहता है, उसी प्रकार कर्म से दूर रहता है। ब्राह्मण साहित्य का भी तो कहना है कि या तो इस रहस्य को जानो अन्यथा यज्ञ करो। सम्पूर्ण उपनिषदों में कहा गया है कि ज्ञान केवल शक्ति नहीं है अपितु वह एकमात्र मुक्ति का मार्ग है। इन्द्र एक सौ वर्ष तक प्रजापति का शिष्य रहता है; केवल ज्ञान के लिए। इसीलिए साधारण जन गुरुओं की सेवा करते हैं। राजा सहस्र गायें व स्वर्ण दान करते हैं; केवल आत्मज्ञान के लिए। आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए ब्राह्मण भी राजाओं के सामने, धनी मनुष्य भी भिक्षुओं के सामने, राजा भी निर्धन के सामने विनम्र हो जाते हैं। इस ज्ञान विषयक उत्कण्ठा का सर्वोच्च उदाहरण कठोपनिषद् का नचिकेता का उपाख्यान है। जहां नचिकेता यम से तीन प्रश्न करता है और अन्त में मृत्यु क्या है? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त कर ही लेता है। जहां वह जन्म और मरण को जीवन-चक्र के दो छोर बताता है और यथार्थ ज्ञान होने पर मृत्यु के बन्धन से मुक्ति एवं ब्रह्म की प्राप्ति का उपदेश देता है। **मैत्रायणी** उपनिषद् में वर्णन मिलता है कि राजा बृहद्रथ अपने पुत्र को सत्ता देकर वनवास ले लेता है। वहां वह शाक्यायन से आत्मज्ञान प्राप्त करता है। इस मूल-मन्त्र के नश्वर घट रूपी शरीर में ज्ञान कहां? इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वेदों में जहां पुरुषार्थ की भावना प्रबल है वहां उपनिषदों में निराशावाद की विचारधारा भी जन्म लेती है। श्री दिनकर "संस्कृति के चार अध्याय" में उपनिषदों के प्रभाव के विवेचन के अवसर पर इसी विचार की पुष्टि करते हुए लिखते हैं, "आत्मा-परमात्मा, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद के विषय में वेद में जो हल्की महीन कल्पनाएं थीं, उपनिषदों में आकर उनका विपुल विकास हो गया और भारतवासी यह मानने लगे कि धर्म का जो असली सूक्ष्मत्व है, वह यज्ञवाद और पशुहिंसा से उपलब्ध नहीं हो सकता। सारी सृष्टि ब्रह्म से व्याप्त है और जड़ चेतन सबके भीतर एक ही सत्ता निवास करती है। इस मत के प्रचार से हिंसा की भावना ढीली होने लगी और लोग यह मानने लगे कि मनुष्य के समान ही पशु-पक्षी और पेड़-पौधे भी हिंसा नहीं, प्रेम और आदर के अधिकारी हैं। चूंकि मोक्ष का सिद्धान्त निरूपित करने में बार-बार जीवन की दुःखपूर्णता की चर्चा की गई इसलिए समाज में एक प्रकार का निराशावाद फैलने लगा और लोग जीवन में उस उत्साह को खोने लगे जो उत्साह वेदकालीन भारतवासियों की विशेषता थी। उपनिषदों ने संन्यास और वैराग्य की भावना को भी प्रेरित किया। अतएव पहले जहां लोग सांसारिक सुखों के भोग के लिए डटकर परिश्रम करने में आनन्द मानते थे, वहां अब वे गृहस्थाश्रम को छोड़कर असमय में ही वैराग्य और संन्यास लेने लगे। वैदिक सभ्यता कर्मट

मनुष्य की सभ्यता थी, जो सोचता कम, काम अधिक करता था। जिसे नरक की चिन्ता नहीं, हमेशा स्वर्ग का ही लोभ था, जो जीवन को दुःखों का आगार नहीं, सुख और आनन्द का साधन मानता था। मगर उपनिषदों ने दिमाग के अनेक दरवाजे खोल दिये और आदमी अनेक सवालों के चक्कर में पड़ गया। यह सृष्टि क्या है? जीव सान्त है या अनन्त? जन्म के पहले क्या था? मरने के बाद क्या होगा? क्या जिन्दगी मरने के साथ ही खत्म हो जायेगी? या मरने के बाद भी हमें स्वर्ग मिलेगा? अगर हां, तो इसका प्रमाण क्या है? इन सवालों की हल्की पतली झांकी वेदों में भी प्रच्छन्न थी, लेकिन वेदकालीन मनुष्य इन प्रश्नों के चंगुल में नहीं पड़ा था। उपनिषदों ने आदमी को कुरेद-कुरेद कर उसे सवालों के हवाले कर दिया। आखिरी जवाब उसे आज तक नहीं मिला है।”

किन्तु यह कहना सर्वथा असंगत होगा कि उपनिषद् के सिद्धान्त आमूल निराशावादी या दुःखवादी हैं। भारतीय दर्शन के मूलाधार ग्रन्थ यह उपनिषद् साहित्य ही हैं। वेदान्त साहित्य के उपजीव्य ग्रन्थ भी यही साहित्य हैं। बौद्धमत तथा ब्राह्मण धर्म के मूल में भी इसी साहित्य की प्रेरणा है। उन सभी को हम सर्वथा निराशावादी स्वीकार नहीं कर सकते हैं।

उपनिषदों की विचारधारा की प्रशंसा करते हुए जर्मनी के दार्शनिक आर्थर शापेनहावर ने लिखा है—“यह अनुपम ग्रन्थ आत्मा की गहराइयों को हिलकोर डालता है। इसके प्रत्येक वाक्य से मौलिक गम्भीर और बड़े ही सुन्दर विचार ऊपर उठते हैं। हमारे चारों ओर भारतीयता का वातावरण आप से आप खड़ा हो जाता है तथा ऐसा प्रतीत होता है, मानो ये विचार हमारे अपने आत्मिक बन्धु के विचार हों। सारे संसार में इसके जोड़ का और ग्रन्थ नहीं हो सकता। जीवन-भर में मुझे यही एक आश्वासन प्राप्त हुआ है और मृत्यु पर्यन्त यह आश्वासन मेरे साथ रहेगा।” उपनिषद् साहित्य को वह सर्वोत्तम मानवीय ज्ञान और बुद्धि का फल मानता है। विश्व में जीवन के विकास के लिए वास्तविक साहित्य भी उसकी दृष्टि में उपनिषद् साहित्य ही है। औपनिषदिक सिद्धान्त एक प्रकार से अपौरुषेय ही है क्योंकि ये जिनके मस्तिष्क की उपज हैं, उन्हें केवल मनुष्य कहना कठिन है। प्रो. विन्टरनिट्ज तो इन औपनिषदिक दार्शनिक विचारकों के आत्मज्ञान विषयक तीव्र जिज्ञासा के प्रतिहारिक भावना से नतमस्तक होता है। दोसन महोदय उपनिषदीय भावगरिमा को विश्वसाहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं।

- (1) उपनिषदें आत्मा एवं ब्रह्म में एकत्व प्रतिपादन करने के साथ शरीर के साथ उसका पार्थक्य प्रतिपादित करती हैं। उपनिषदें आत्मा को अखण्ड, अद्वितीय एवं सर्वव्यापक मानती हैं। ब्रह्म वह अनन्त दिव्य शक्ति है। वह समस्त जीवन का स्रोत है और जीवन की हर वस्तु अन्ततः उसी में विलीन हो जाती है क्योंकि जिससे इन वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, उत्पन्न हो जाने के बाद वे जिनमें वास करती हैं

और मृत्यु के बाद जिसमें विलीन हो जाती हैं, वही ब्रह्म है, वही सत् है और वही आनन्द है।”

- (2) ऋग्वेदीय प्रजापति के सृजन तत्त्व की ब्रह्म में स्वीकृति।
- (3) विश्व के मायामयत्व का प्रतिपादन तथा ब्रह्म के द्वारा उनके कर्तव्य का निधान।
- (4) आत्मा के गमन-प्रत्यागमन का सिद्धान्त।
- (5) कर्म एवं ज्ञान के अनुरूप विभिन्न योनियों में जन्म तथा विश्व के क्षणिकत्व का निरूपण।
- (6) सम्यक् ज्ञान के अभाव में मुक्ति अलभ्य आदि कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जिनकी उद्भावना उपनिषद् साहित्य में हुई है।

उपनिषदों का रचनाकाल

प्राचीनतम उपनिषदों में ऐतरेय, वृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, कौषीतकी तथा केनोपनिषद् हैं। इनमें वेदान्ततत्त्व मौलिक रूप में निहित है। कुछ उपनिषदें जो कि पूर्णरूपेण या अधिकतर पद्य में लिखी गई हैं, ये परवर्ती सिद्ध होती हैं परन्तु फिर भी प्राक्बौद्धकालीन हैं। ये भी किसी-न-किसी वैदिक शाखा से संबंधित हैं। परन्तु आरण्यकों के भाग नहीं हैं। इनमें से कठोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय काठक शाखा से संबंधित हैं। श्वेताश्वतर तथा महानारायणोपनिषद् भी कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय आरण्यक से सम्बद्ध हैं। ईशोपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदीय चालीसवां अध्याय है। मुण्डकोपनिषद् तथा प्रश्नोपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध हैं। ये उपनिषदें भी वेदान्त सिद्धान्तों से पूर्ण हैं, परन्तु इनमें सांख्ययोग तथा अद्वैतवादी (Monothestic) सिद्धान्त भी निहित है। मैत्रायणी उपनिषद् जो कि गद्य में है किन्तु वैदिक गद्य के अनुरूप नहीं। वह कृष्ण यजुर्वेदीय मैत्रायणी शाखा से सम्बद्ध है तथा बौद्धोत्तरकालीन है; किन्तु विन्टरनिट्ज ने इस रचना को लौकिक संस्कृत साहित्य के काल का माना है। अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषद् भी इसी काल की रचना है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में बारह उपनिषदों का उल्लेख किया है; किन्तु उन्होंने मैत्रायणी एवं माण्डूक्य उपनिषदों का उल्लेख नहीं किया है। अतः इन उपनिषदों को परवर्ती वैदिक साहित्य की अन्तिम रचना के रूप में स्वीकृत किया गया है। उपर्युक्त चौदह उपनिषदें भारतीय दर्शन की मूलाधार हैं।

इन उपनिषदों के अतिरिक्त लगभग दो सौ उपनिषदें और भी हैं जो कि संग्रहात्मक स्वतन्त्र उपनिषदों के रूप में हैं। इन उपनिषदों का भी सम्बन्ध किसी-न-किसी वैदिक शाखा से मान लिया गया है। वास्तव में सभी तो नहीं, हां, कुछ उपनिषदें अवश्य ही वैदिक शाखाओं से सम्बद्ध हैं। ये उपनिषदें-दार्शनिक तत्त्व की अपेक्षा धार्मिक तत्त्वों का अधिक विश्लेषण करती हैं तथापि परवर्ती धार्मिक एवं दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्त का समावेश इसमें मिलता है। ये

उपनिषदें पौराणिक एवं तान्त्रिक युग की रचनाएं प्रतीत होती हैं। उद्देश्य और विषय-वस्तु के आधार पर इन उत्तरकालीन उपनिषदों का हम इस प्रकार का एक वर्गीकरण कर सकते हैं—

- (i) वेदान्त-सिद्धान्तों की प्रकाशिका उपनिषदें,
- (ii) योग-सिद्धान्त की प्रकाशिका उपनिषदें,
- (iii) संन्यासी संबंधिनी उपनिषदें,
- (iv) विष्णु महत्त्व प्रदर्शिका उपनिषदें,
- (v) शिव-महत्त्व निदर्शिका उपनिषदें,
- (vi) शाक्त आदि सम्प्रदाय की उपनिषदें।

इनमें से कुछ उपनिषदें गद्यमय, कुछ गद्य-पद्यमय और कुछ महाकाव्यीय श्लोक शैली में हैं। इनमें कुछ प्राचीन भी हैं जिन्हें हम दैनिक उपनिषदों के मिलान में रख सकते हैं; जैसे—

- (i) जाबाल उपनिषद् (शंकराचार्य द्वारा उल्लिखित) इसमें परमहंस नामक तपस्वी का रोचक वर्णन है।
- (ii) परमहंस उपनिषद्—परमहंस का अधिक स्पष्ट वर्णन किया गया है।
- (iii) सुबाल उपनिषद् (रामानुज द्वारा उद्धृत)—इसमें सृष्टि उत्पत्ति, शरीर-रचना, मनोविज्ञान व दर्शन के तत्त्व निहित हैं।
- (iv) गर्भोपनिषद्—इसमें भ्रूणविज्ञान के अतिरिक्त पुनर्जन्म की अप्राप्ति के उपायों का विवेचन है।
- (v) शिवोक्त अथर्वशीर्ष उपनिषद् (धर्मसूत्रों द्वारा उद्धृत) इसमें पापों को दूर करने के उपाय कहे हैं।
- (vi) वज्रसूचिका उपनिषद्—ब्रह्म वर्णन परक है। इसमें ब्राह्मण उसी को माना गया है जो ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान रखता है।

उपनिषद् साहित्य की सर्वाधिक अर्वाचीन प्रामाणिक कृति मुक्तिकोपनिषद् है, जिसमें 108 उपनिषदों के नामों का उल्लेख किया गया है, जिसका सम्बन्ध वेदों से जोड़ा है, वे विभिन्न वेदों से इस प्रकार सम्बद्ध हैं—

ऋग्वेद से सम्बद्ध	दस उपनिषदें
शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध	उन्नीस उपनिषदें
कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध	तेतीस उपनिषदें
सामवेद से सम्बद्ध	सोलह उपनिषदें
अथर्ववेद से सम्बद्ध	इक्कीस उपनिषदें

उपनिषद् साहित्य का एक विशद् वर्गीकरण और भी विद्वानों ने किया है, उसमें उपनिषदों को यथाक्रम चार वर्गों में बांटा गया है। यह वर्गीकरण इस प्रकार है—

पहला वर्ग—‘वृहदारण्यक’ छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और कौषीतकी उपनिषद्। ये सभी गद्यमय हैं।

दूसरा वर्ग—केनोपनिषद्, काठकोपनिषद्, ईशोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद् व महानारायणोपनिषद्। ये छन्दबद्ध हैं। इनमें सिद्धान्तों का विकास नहीं होता है अपितु सिद्धान्तों को स्थिरता मिल जाती है। ये उपनिषद् सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं।

तीसरा वर्ग—इसमें प्रश्न, मैत्रायणी एवं माण्डूक्यादि उपनिषदें आती हैं। इसकी रचना-विधान गद्यमय है।

चौथा वर्ग—इस वर्ग में अथर्ववेद की उपनिषदों की गणना होती है जो कि परवर्ती है तथा जिनकी प्रवृत्ति गद्य-पद्य उभयात्मक है।

विभिन्न वेदों से सम्बद्ध उपनिषदों का सामान्य परिचय निम्न प्रकार है—

ऋग्वेदीयोपनिषद्

(1) **ऐतरेय उपनिषद्**—यह ऋग्वेद का एक लघुकाय उपनिषद् है। इसमें तीन अध्याय हैं, जिनमें आत्मा एवं ब्रह्म से सम्बद्ध विचार उपनिबद्ध हैं। इसके एक अध्याय में विश्व को आत्मा की कृति बतलाया गया है। इस उपनिषद् की रचना का मूलाधार ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त है।

(2) **कौषीतकी उपनिषद्**—यह अपेक्षाकृत बड़ी रचना है। इसमें चार अध्याय हैं। उनमें दो मार्गों का विधान है, जिनमें से होकर यह आत्मा मृत्यु के उपरान्त गमन करता है। द्वितीय अध्याय में प्रजा को आत्मा का प्रतीक बतलाया गया है। अन्तिम अवशिष्ट दो अध्यायों में ब्रह्मसिद्धान्त का विशद् निरूपण है। इसमें कुछ ऐसे याज्ञिक विद्वानों का भी उल्लेख है, जिनके द्वारा व्यक्ति अपनी अभिमत कामनाओं की पूर्ति करता है। ज्ञान की अपेक्षा यहां कर्म की प्रधानता स्वीकार की गई है।

सामवेदीय उपनिषद्

छान्दोग्योपनिषद्—इस उपनिषद् के प्रथम दो अध्यायों में समान एवं उदगीथ की धार्मिक दृष्टि से व्याख्या की गई है। तृतीय अध्याय में ब्रह्म को विश्व का सूर्य कहा गया है। चतुर्थ अध्याय में ब्रह्म, वायु, श्वास आदि के सम्बन्ध में एक वाद-विवाद है। पंचम अध्याय में प्रारम्भ में आत्मा के गमन एवं प्रत्यागमन का निरूपण हुआ है। इस अध्याय के उत्तरार्द्ध में विभिन्न लोकों की निर्मूलता सिद्ध हो गई है। छठे अध्याय में सत् के द्वारा उद्भूत अग्नि, जल एवं आहार-तत्त्वों की मीमांसा की गई है। तत्त्वमसि सिद्धान्त भी यहां व्याख्यात है।

सप्तम अध्याय में ब्रह्म के षोडश रूपों का विधान है। अष्टम अध्याय के पूर्वार्द्ध में आत्मा का अन्तःकरण एवं विश्व में निवास प्रतिपादित है। उत्तरार्द्ध में सत् एवं असत् आत्मा की व्याख्या है और आत्मा की भौतिक शरीर, स्वप्न एवं निद्रागत विविध दशाओं में स्वप्नगत आत्मा को ही सत्य स्वीकार किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् महत्त्वपूर्ण प्राचीन उपनिषदों में से एक है। साहित्यिक दृष्टि से भी इसका अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

केनोपनिषद्—यह उपनिषद् सामवेद के तवलकार ब्राह्मण का भाग है। तवलकार अथवा जैमिनीय ब्राह्मण का अंश होने के कारण ही कभी-कभी इसे तवलकारोपनिषद् या संक्षेप में ब्राह्मण उपनिषद् भी कह दिया जाता है। इस उपनिषद् के प्रथम मन्त्र में ही शिष्य का प्रश्न है—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनःकेन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।

केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति।।

किसके द्वारा प्रेरित मन विषयों पर गिरता है? समग्र चेतनतत्त्व का नियामक अधिष्ठाता कौन है? 'केन' प्रश्नवाचक प्रथम शब्द के आधार पर ही समग्र उपनिषद् केनोपनिषद् के नाम से अभिहित की जाती है। केनोपनिषद् में अत्यन्त सबल भाषा में बतलाया गया है कि परमतत्त्व समस्त इन्द्रियों का इन्द्रिय एवं समस्त इन्द्रियों की पहुँच से ऊपर है। वह परमतत्त्व समस्त देवताओं का भी देवता एवं समस्त उपास्यों का भी उपास्य है। उस परम रहस्य का ज्ञाता समस्त पापों से मुक्त होकर शाश्वत अमृतत्व को प्राप्त करता है।

कृष्ण यजुर्वेदीयोपनिषद्

मैत्रायणी उपनिषद्—इस उपनिषद् में सात अध्याय हैं। छठे अध्याय का उत्तरार्द्ध एवं सप्तम अध्याय परिशिष्ट रचना मानी जाती है। इस उपनिषद् की रचना गद्यमय है किन्तु कहीं-कहीं पद्य के अंश भी मिल जाते हैं। यह परवर्ती काल की रचना मानी जाती है। इसके कई कारण भी हैं—प्रथम तो यह कि इसमें सांख्यदर्शन की पूर्ण कल्पना है; दूसरे, इसमें परवर्ती काल में प्रयुक्त होने वाले अनेक शब्द मिल जाते हैं। तीसरे, अनेक वेद विरुद्ध सम्प्रदायों का इसमें उल्लेख है।

इस उपनिषद् की विषय-सामग्री तीन प्रश्नों के उत्तर में निहित है। **प्रथम प्रश्न** यह है कि आत्मा किस प्रकार शरीर में प्रवेश प्राप्त करती है? उत्तर में कहा गया है कि प्रजापति स्वयं रचित शरीर-विशेष में जीवन संचार करने के लिए पंच प्राणों के रूप में प्रविष्ट होता है।

द्वितीय प्रश्न है—परमात्मा किस प्रकार भूतात्मा बनता है? इस प्रश्न का समाधान सांख्य मान्यताओं के अनुसार किया गया है। जिसके अनुसार आत्मा प्रकृति के विविध गुणों से पराभूत होकर आत्मरूप को भूल जाता है। इसके पश्चात् आत्मबोध एवं मुक्ति के लिए प्रयास करता है।

तृतीय प्रश्न है—सांसारिक दुःखों से मुक्ति का मार्ग क्या है? इस प्रश्न का उत्तर सांख्य एवं वेदान्त की मान्यता को दृष्टि में रखते हुए स्वतन्त्र रूप से दिया गया है। उत्तर में कहा गया है कि ब्राह्मण धर्म की प्राचीन मान्यताओं के अनुरूप वर्ण व्यवस्था एवं विभिन्न आश्रमों में निष्ठावान् व्यक्ति ही ब्रह्मज्ञान एवं मोक्ष के अधिकारी होते हैं। ब्राह्मण काल के प्रमुख तीन देवता अग्नि, वायु एवं सूर्य—तीन भाव रूप सत्ताएं, काल, श्वास एवं आहार और तीन प्रचलित देवता ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश आदि सब ब्रह्म का बोध कराने वाले हैं।

काठकोपनिषद्—यह कृष्ण यजुर्वेदीय प्रथम उपनिषद् (मैत्रायणोपनिषद्) से प्राचीन है। इसमें एक सुन्दर आख्यान समाहित है। इस उपनिषद् के दो भाग हैं—एक प्राचीन; दूसरा अर्वाचीन एवं संयुक्त। प्रथम अंश में आत्मस्वरूप का परिचय देते हुए कहा गया है कि किस प्रकार आत्मा शरीर में प्रविष्ट होता है तथा यौगिक साधना से पुनः लौट आता है। द्वितीय भाग में चतुर्थ अध्याय में आत्मविषयक चर्चा है। जहां पुरुष एवं प्रकृति को आत्मा का ही रूप माना है। पांचवे अध्याय में आत्मा का विश्व में मुख्यतः शरीर में निवास माना गया है अन्तिम अध्याय में सर्वोच्च ध्येय की प्राप्ति का मार्ग योग को माना गया है।

श्वेताश्वतरोपनिषद्—इस उपनिषद् का नामकरण स्पष्ट ही एक ऋषि के नाम पर हुआ है। इस उपनिषद् में विश्व को ब्रह्मकृत माया का प्रतिरूप माना गया है तथा सवितृ, ईशान एवं रुद्र देवों को ब्रह्मा का प्रतीक माना गया है। इसकी रचना काठकोपनिषद् के बाद की है; क्योंकि इसमें काठक के अनेक अंश यथावत् लिए गये हैं। बहुतों को कुछ परिवर्तन के साथ लिया गया है। योग सिद्धान्तों का समावेश भी इसे परवर्ती सिद्ध करता है। साथ ही इसकी रचना-विधान से ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषद् अनेक कर्त्ताओं की कृतियों का संग्रह है।

शुक्ल यजुर्वेदीयोपनिषद्

वृहदारण्यकोपनिषद्—यह उपनिषद् एक महत्त्वपूर्ण एवं बड़ी रचना है। यह तीन भागों में विभक्त है। प्रत्येक भाग दो-दो अध्यायों में विभक्त है। तीसरे भाग का नाम खिलकाण्ड है, जो कि परिशिष्ट मात्र है। प्रथम भाग मधु काण्ड है, द्वितीय याज्ञवल्क्य काण्ड। दोनों ही भागों में वंश नामक सूची निबद्ध है। सूचियों के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि दोनों भाग नौ पीढ़ी तक स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् रहे; किन्तु बाद में अग्निवेश नामक ऋषि ने दोनों को जोड़कर एक कर दिया है। परवर्ती समय में तीसरा भाग भी जोड़कर समग्र ग्रन्थ एक कर दिया गया है।

प्रथम भाग के प्रथम अध्याय में अश्वमेघ यज्ञ की व्याख्या की गई है, प्राण को आत्मा का प्रतीक माना गया है। आत्मा तथा ब्रह्म से विश्व की उत्पत्ति तथा दूसरे अध्याय में आत्मा की प्रकृति का निरूपण है। ग्रन्थ के द्वितीय भाग में चार वाद-विवाद समाहित हैं। निष्कर्ष रूप में हम इस प्रकार कह सकते

हैं—यद्यपि ब्रह्म सिद्धान्ततः अज्ञेय हैं किन्तु क्रियात्मक रूप से वह ज्ञेय है। तीसरे भाग के प्रथम अध्याय में पन्द्रह काण्ड हैं जो कि विषय-वस्तु की दृष्टि से पर्याप्त भिन्न हैं। द्वितीय अध्याय में आत्मा का गमनागमन सिद्धान्त निरूपित है, किन्तु यह याज्ञवल्क्य के पूर्व उक्त सिद्धान्त के अनुरूप नहीं है।

ईशोपनिषद्—इसे वाजसनेयोपनिषद् भी कहा जाता है। यह एक लघुकाय उपनिषद् है जो कि यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय है। इसमें ईश्वर को सर्वव्यापक स्वीकार किया गया है। आकार में स्वल्प होते हुए भी ज्ञान की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीर उपनिषद् है।

अथर्ववेदीयोपनिषद्—अथर्ववेद की उपनिषदों की संख्या निश्चित नहीं है; किन्तु विभिन्न सूत्रियों के आधार पर इस वेद से सम्बद्ध सत्ताईस उपनिषदों को माना जाता है। तीन उपनिषदों को छोड़कर सभी पुराणकालीन तथा परवर्ती रचनाएं हैं। इन सत्ताईस उपनिषदों में से एक अल्लोपनिषद् है, जो कि स्पष्टतः यवनों से प्रभावित रचना है। अथर्ववेदीय उपनिषदों का विभाजन विद्वानों ने चार रूपों में किया है—

प्रथम—आत्म स्वरूप निरूपक उपनिषद्।

द्वितीय—योगसाधना-सम्बद्ध उपनिषद्।

तृतीय—संन्यास साधना प्रतिपादक उपनिषद्।

चतुर्थ—वर्ग में विवाद बहुल उपनिषदें समाहित हैं। इस वर्ग की उपनिषदों में विविध देवों को आत्मा का ही रूपान्तर माना गया है।

मुण्डकोपनिषद्—यह उपनिषद् अथर्ववेद की शौनकीय शाखा के अन्तर्गत आती है। सम्पूर्ण उपनिषद् तीन मुण्डकों में और प्रत्येक मुण्डक दो-दो खण्डों में विभक्त है। इस उपनिषद् का नामकरण 'मुण्ड' नामक साधुओं के आधार पर किया गया है जो उत्तरकालीन बौद्ध-भिक्षुओं की भांति अपना सिर मुण्डाये रहते थे।

प्रश्नोपनिषद्—यह उपनिषद् अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा के ब्राह्मण भाग के अन्तर्गत है। इसमें पिप्पलाद नामक ऋषि ने भारद्वाज के पुत्र सुकेशा, शिवि के पुत्र सत्यवान, कौशलदेशीय आश्वलायन, विदर्भ निवासी भार्गव, कात्यायन एवं कबन्धी—इन छः ऋषियों के छः प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। इन्हीं प्रश्नों के कारण यह उपनिषद् प्रश्नोपनिषद् के अभिधान को ग्रहण करती है। इन जिज्ञासुओं के प्रश्न ये हैं—प्रजा के शरीर धारण करने वाले देवताओं के सम्बन्ध में, प्राण के शरीर में प्रवेश एवं निर्गमन के सम्बन्ध में, मन तथा अन्य इन्द्रियों की ग्रहणशीलता के सम्बन्ध में निद्रा, जागरण एवं स्वप्न आदि के विषय में, ओंकार उपासना के सम्बन्ध में तथा षोडश कला सम्पन्न पुरुष विषयक प्रश्न इस उपनिषद् में किये गये हैं। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में आत्मतत्त्व का वर्णन किया गया है। प्रायः सम्पूर्ण उपनिषदें गद्य में हैं; किन्तु पद्य का सर्वथा अभाव नहीं है।

माण्डूक्योपनिषद्

माण्डूक्योपनिषद् भी अथर्ववेदीय मानी जाती है। यह एक स्वल्पाकार रचना है, जिसमें कुल मिलाकर बारह मन्त्र हैं। प्रथम मन्त्र में ही ओंकार की महिमा का गान किया गया है, जो कुछ भूत, भविष्य एवं वर्तमान है, जो कुछ त्रिकालातीत है, सब ओंकार ही है—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव।।

उपनिषद् का उपसंहार करते हुए अन्तिम मन्त्र में भी इसी ओंकार की महिमा का इस प्रकार संकीर्तन किया गया है। यह वर्ण मात्रा रहित अव्यवहार्य शिव अद्वैत ओंकार है जो इसे इस प्रकार समझता है, वह स्वतः परमात्मा में समाविष्ट हो जाता है।

अध्याय—6

सूत्रकाल

वैदिक साहित्य में दो प्रकार की विद्याओं का उल्लेख मिलता है। एक परा (उत्तम) विद्या जो ब्रह्म ज्ञान से सम्बद्ध है। दूसरी अपरा विद्या ब्रह्म ज्ञान के अतिरिक्त समस्त ज्ञानराशि इसके अन्तर्गत गृहीत की जाती है। वेदांग साहित्य सूत्रात्मक शैली में निर्मित एक अद्भुत साहित्य है। इसका उदय वेद के स्वरूप तथा उसके अर्थ के संरक्षण के निमित्त ही हुआ है। मुण्डकोपनिषद् में उपलब्ध वेदांगों के नाम और उनका विधिवत् विवेचन सिद्ध करता है कि इस साहित्य का उदय उपनिषद् काल में ही हो चुका था। इन अंगों के नाम क्रमशः शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष रखे जा चुके थे।

जहां उपनिषद् साहित्य में ब्राह्मण साहित्य के विचार पक्ष (ज्ञानकाण्ड) का प्रतिपादन किया गया है, वहां दूसरी ओर सूत्र साहित्य में उनके धार्मिक क्रियाकाण्डीय-पक्ष को प्राधान्य दिया गया है। यज्ञों की कार्यविधि को संक्षिप्त, नियमित एवं क्रमबद्ध बनाने की दृष्टि से सूत्र साहित्य का उदय होता है। किसी धार्मिक सम्प्रदाय-विशेष का सूत्र साहित्य कल्प संज्ञा से अभिहित किया जाता है—**कल्पो वेद विहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पशास्त्रम्**। कल्प सूत्रों के चार विभाग हैं—

- (1) **श्रौतसूत्र**—इनमें श्रुति प्रतिपादित यज्ञों का क्रमबद्ध विवेचन होता है।
- (2) **गृह्यसूत्र**—इनमें गार्हिक यज्ञों एवं उत्सव आदि से सम्बद्ध विविध विधियों का विधिवत् वर्णन किया गया है।
- (3) **धर्मसूत्र**—इन सूत्र ग्रन्थों में मुख्यतः आचारशास्त्र का निरूपण किया गया है।
- (4) **शुल्वसूत्र**—इन सूत्र ग्रन्थों में वेदी निर्माण की रीति का विवेचन किया गया है।

श्रौतसूत्रों में अग्निहोत्र, पौर्णमास्य यज्ञ, चातुर्मास्य एवं पशुयज्ञ आदि की विधियों का सर्वांगीण विवेचन सूत्र भाषा में किया गया है। यही नहीं, इन यज्ञों में प्रयुक्त होने वाली तीन प्रकार की अग्नियों का भी विधान एवं वर्णन सूत्र ग्रंथों में है। गृह्यसूत्रों में अनेक विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इनमें समस्त क्रियाकलापों, संस्कारों, उत्सवों एवं यज्ञों की विधियों का विशद् विवेचन किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में वर्णित निम्न पांच यज्ञों का भी वर्णन इन सूत्र ग्रंथों में मिलता है—(1) देवयज्ञ—इनमें देवताओं की आहुति दी जाती है। (2) दानवयज्ञ—इनमें दानवों के सन्तोष के लिए बलि देने का विधान है। (3) पितृयज्ञ—इस यज्ञ में पितरों के लिए आहुति, दान एवं तर्पण किया जाता है।

(4) मनुष्ययज्ञ—इस यज्ञ में अतिथियों का सत्कार एवं उनकी सेवाओं का विधान है। (5) ब्रह्मयज्ञ—प्रतिदिन होने वाले यज्ञों का वर्णन है।

ऋग्वेद के श्रौतसूत्र

(1) सांख्यायन श्रौतसूत्र—इसमें राजाओं द्वारा किये जाने वाले यज्ञों का विस्तृत वर्णन है। इस श्रौतसूत्र में अठारह अध्याय हैं। अन्तिम दो अध्याय परिशिष्ट रूप में हैं। क्योंकि विषय की दृष्टि से कौषीतकी आरण्यक से मिलते-जुलते हैं।

(2) आश्वलायन श्रौतसूत्र—इस पुस्तक में बारह अध्याय हैं। विषय की दृष्टि से इसका सम्बन्ध ऐतरेय ब्राह्मण से है। इसमें 'होता' द्वारा प्रतिपाद्य यज्ञों के अनुष्ठान का वर्णन है।

सामवेद के श्रौतसूत्र—इस वेद के तीन श्रौतसूत्र हैं। इनमें सबसे प्राचीन आर्षेय कल्पसूत्र हैं। इसका दूसरा नाम इसके रचयिता के नाम पर मशक-कल्पसूत्र है। इसमें सामगानों की विशिष्ट अनुष्ठानों में विहित क्रियाओं का वर्णन है। दूसरा श्रौतसूत्र लाट्यायन है। इसका विषय पंचविंश ब्राह्मण से सम्बद्ध है। तीसरा सामवेद का श्रौतसूत्र द्राह्यायण हैं।

शुक्ल यजुर्वेद के श्रौतसूत्र

कात्यायन श्रौतसूत्र—इस ग्रन्थ में छब्बीस अध्याय हैं। इसमें शतपथ के विधि-विधान का पूर्णतः पालन किया जाता है। इसके बारहवें, तेरहवें और चौदहवें अध्याय में सामवेद की क्रियाओं का ही अन्तर्भाव किया गया है। यह सूत्र काल के अन्तिम चरण की रचना मानी जाती है।

कृष्ण यजुर्वेदीय श्रौतसूत्र

(1) आपस्तम्ब श्रौतसूत्र—प्रस्तुत सूत्रग्रन्थ में इस नाम से कल्प सूत्र से तीस प्रश्नों में से प्रथम बीस प्रश्नों को समाहित किया है। (2) हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र यह सूत्रग्रन्थ आपस्तम्ब श्रौतसूत्र की ही एक शाखा है; इसमें कल्पसूत्र के उन्नीस प्रश्नों में से अठारह प्रश्नों का समाधान किया गया है। (3) बौद्धायन श्रौतसूत्र—यह सूत्र-ग्रन्थ आपस्तम्ब से प्राचीन है; परन्तु अद्यावधि अप्रकाशित है। (4) भारद्वाज श्रौतसूत्र—यह सूत्र-ग्रन्थ भी प्रकाशन की प्रतीक्षा में है। (5) मानव श्रौतसूत्र—इसका सम्बन्ध मैत्रायणी संहिता से है। मनुस्मृतिकार को मनुस्मृति की रचना में इसी श्रौतसूत्र से प्रेरणा मिली प्रतीत होती है। (6) वैखानस श्रौतसूत्र—इसका उल्लेख बहुत कम उपलब्ध होता है।

अथर्ववेदीय श्रौतसूत्र

वैतानसूत्र—यह रचना न तो प्राचीन है, न मौलिक ही। इसका सम्बन्ध गोपथ ब्राह्मण एवं कात्यायन श्रौतसूत्र से बतलाया जाता है।

गृह्यसूत्र

गृह्यसूत्रों का निर्माण श्रौतसूत्रों के पश्चात् हुआ है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में गार्हिक यज्ञ-क्रिया के अभाव के कारण ही इन सूत्रों का सृजन हुआ है।

ऋग्वेदीय गृह्यसूत्र

(1) शांखायन गृह्यसूत्र—इसमें छः अध्याय हैं। प्रथम चार मौलिक हैं। शेष को प्रक्षिप्त माना जाता है। (2) शाम्भव गृह्यसूत्र—इसका सम्बन्ध कौषीतकी सम्प्रदाय से है। इसकी विषय-सामग्री शांखायन गृह्यसूत्र के प्रथम दो अध्यायों से सम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त पितृसम्बन्धी एक स्वतन्त्र अध्याय भी प्राप्त होता है। यह भी अप्रकाशित ही है। (3) आश्वलायन गृह्यसूत्र—इसमें चार अध्याय हैं। इसकी विषय-सामग्री ऐतरेय ब्राह्मण से संबंधित है। इसमें आश्वलायन श्रौतसूत्र की विषय-सामग्री का विस्तार से उल्लेख है।

सामवेद के गृह्यसूत्र

गोभिल गृह्यसूत्र—यह सर्वाधिक प्राचीन एवं पूर्ण गृह्यसूत्र है। दूसरा गृह्यसूत्र खादिर गृह्यसूत्र—यह द्राध्यायण सम्प्रदाय से संबंधित है तथा राणायनीय शाखा ने भी इसका प्रयोग किया है।

शुक्ल यजुर्वेद के गृह्यसूत्र

इस गृह्यसूत्र का नाम वाजसनेय गृह्यसूत्र है। कात्यायन श्रौतसूत्र से इसका अत्यधिक सम्बन्ध है। याज्ञवल्क्यस्मृति प्रस्तुत गृह्यसूत्र से प्रभावित प्रतीत होता है।

कृष्ण यजुर्वेदीय गृह्यसूत्र

इस वेद के सात गृह्यसूत्र हैं। किन्तु प्रकाशित केवल तीन ही हुए हैं— (1) आपस्तम्ब गृह्यसूत्र—इसमें आपस्तम्ब कल्पसूत्र के 26वें तथा 27वें अध्याय की विषय-सामग्री संग्रहीत की गई है। उक्त कल्पसूत्र के 25वें अध्याय में केवल मन्त्रों का सन्निवेश है। अतः प्रस्तुत सूत्र की वास्तविक विषय-सामग्री का संग्रह तो 27वें अध्याय में है। (2) हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र—इसमें इसी नाम के कल्पसूत्र के 29वें अध्याय की विषय-सामग्री का ही विवेचन है। (3) बौद्धायन गृह्यसूत्र—यह अब तक अप्रकाशित है। अतः इसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता है। (4) मानव गृह्यसूत्र—यह गृह्यसूत्र भी इसी नाम के कल्प सूत्र से विशेष सम्बन्ध रखता है। इसमें विनायक पूजा नामक उत्सव-विशेष का भी समावेश किया गया है। (5) काठक गृह्यसूत्र—इसका मानव गृह्यसूत्र से स्पष्ट सम्बन्ध है और यह विष्णु स्मृति से भी संबंधित है। (6) भारद्वाज गृह्यसूत्र—इसका विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है। (7) वैखानस गृह्यसूत्र—आकार-प्रकार में यह एक बहुत बड़ी रचना है; किन्तु यह परवर्ती काल की रचना है।

अथर्ववेद के गृह्यसूत्र

कौशिक गृह्यसूत्र—इसमें वैदिक कालीन सामान्य गृहस्थ की सम्पूर्ण जीवनचर्या का उल्लेख है। साथ ही इसमें अभिचार, इन्द्रजाल एवं तन्त्र आदि से सम्बद्ध मन्त्रों का भी समावेश है। इस गृह्यसूत्र में मुख्यतः गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त होने वाले घरेलू क्रिया-कलापों से संबंधित मन्त्रों का समावेश है। प्रमुख संस्कार ये हैं—(1) पुंसवन-पुत्र-प्राप्ति के लक्ष्य से किया जाने वाला संस्कार, (2) जातकर्म-पुत्र जन्म के उपलक्ष्य में अनुष्ठेय संस्कार, (3) नामकरण संस्कार, (4) क्षौरकर्म, (5) गोदान, (6) उपनयन-आठ से सोलह वर्ष पर्यन्त किया जाने वाला यह संस्कार है, जिससे बालक द्विज संज्ञा का अधिकारी होता था, (7) समावर्तन गुरुगृह में विद्या समाप्ति पर होने वाला संस्कार, (8) विवाह, (9) महायज्ञ-दैनिक होने वाला यज्ञ, (10) वेद यज्ञ-वेद का स्वाध्याय, (11) देवयज्ञ-देवताओं के लिए होम, (12) पितृ यज्ञ-पितरों के लिए तर्पण, (13) भूतयज्ञ-विभिन्न पिशाचादि के लिए बलि प्रदान करना, (14) मनुष्यज्ञ-अतिथि-सत्कार आदि, (15) दर्शपूर्ण मास्ययज्ञ-इसमें विभिन्न संस्कारों का समावेश एक साथ होता है। जैसे वर्षारम्भ में सर्पों को बलि देना गृह-निर्माण, गृह-प्रवेश, जनहिताय साड़ का छोड़ना, कृषि सम्बन्धी उत्सव तथा चैत्यों पर बलि आदि, (16) अन्त्येष्टि, (17) श्राद्ध, (18) पितृ मेघ।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय गृहस्थ के धार्मिक जीवन के अध्ययन की दृष्टि से तथा नृतत्वविज्ञान एवं इतिहास के विद्यार्थी के लिए गृह्यसूत्रों की उपयोगिता विशेष महत्त्वपूर्ण है। भारोपीय जाति प्रथाओं का गृह्यसूत्र में उपलब्ध वैवाहिक विधियों के साथ किया जाने वाला अध्ययन इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि एक समय इन जातियों का पारस्परिक सम्बन्ध केवल भाषा तक ही सीमित नहीं था, अपितु दैनिक जीवन की विधियों में भी अनुस्यूत था। प्रो. विन्टरनिट्ज ने गृह्यसूत्रों की रचना को प्राच्य भारत का समाचार पत्र बतलाते हुए सम्पूर्ण भारतीय सूत्र साहित्य को विश्व के उपलब्ध वाङ्मय में सर्वथा अतुलनीय बतलाया है।

धर्मसूत्र

इस साहित्य में प्राचीन भारतीय गृहस्थ के दैनिक आचार-संहिता का निरूपण किया गया है। इस प्रकार का साहित्य भी सूत्रात्मक शैली में ही निबद्ध मिलता है। प्रमुख धर्मसूत्र निम्न हैं—

(1) **आपस्तम्ब धर्मसूत्र**—प्रस्तुत धर्मसूत्र की विषय-सामग्री आपस्तम्ब कल्पसूत्र के अट्टाईसवें तथा उन्नीसवें अध्याय से संगृहीत है। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के यज्ञ तथा क्रियाओं का विधान है। साथ ही इसमें कतिपय ऐसे भोज्य पदार्थों की चर्चा आती है, जिन्हें अभक्ष्य एवं सेवन के योग्य नहीं माना गया है। तप एवं शुद्धि का भी विधान है। भाषा पाणिनि से पूर्ववर्ती है। प्रो. ब्रूलर ने समस्त सूत्र साहित्य का रचनाकाल 400 ई. पूर्व माना है।

(2) **हिरण्यकेशी धर्मसूत्र**—प्रस्तुत धर्मसूत्र का आपस्तम्ब धर्मसूत्र से गम्भीर सम्बन्ध है। प्रतीत होता है कि ईसा पूर्व पांचवी सदी में प्रस्तुत धर्मसूत्र ने आपस्तम्ब धर्मसूत्र से स्वतन्त्र होकर अपना वर्तमान रूप ग्रहण किया है। जहां तक विषय-सामग्री का प्रश्न है, हिरण्यकेशी सम्प्रदाय के कल्पसूत्र के छब्बीस एवं सत्ताईसवें अध्यायों की सामग्री को ही इसमें निरूपित किया गया है।

(3) **बौद्धायन धर्मसूत्र**—इसकी विषय-वस्तु कल्पसूत्र से बिना किसी क्रम के उद्धृत की गई है तथा यह आपस्तम्ब धर्मसूत्र से प्राचीन प्रतीत होता है। यद्यपि आज भारत के किसी भी प्रदेश में बौद्धायन सम्प्रदाय का अस्तित्व नहीं है; परन्तु प्राचीन समय में दक्षिण भारत इसका प्रसार क्षेत्र था, ऐसा कहा जाता है।

आचार्य सायण इसी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इसमें आश्रम चतुष्टय के कर्तव्य, विभिन्न जातियां, विविध यज्ञ, शुद्धिकरण, तप, शुभ उत्सव, राजाओं के कर्तव्य, अपराधियों का न्याय, उत्तराधिकार व्यवस्था, वैवाहिक नियम आदि अनेक विषयों का अनुशीलन हुआ है। इसका चतुर्थ अध्याय पद्यात्मक है जो कि धर्मसूत्र के बाद की रचना होने का सूचक है।

(4) **गौतम धर्मशास्त्र**—इसका मौलिक सम्बन्ध यद्यपि किसी कल्पसूत्र से नहीं है तथापि सामवेद की राणायनी शाखा से इनका साक्षात्सम्बन्ध बतलाया गया है। कुमारिल के मत में तो इसका सामवेद से ही साक्षात् सम्बन्ध है, क्योंकि इसका छब्बीसवां अध्याय सामवेद ब्राह्मण की ही अविकल प्रतिलिपि है। यद्यपि धर्मशास्त्र की संज्ञा से इसे अभिहित किया जाता है; परन्तु शैली की दृष्टि से इसे धर्मसूत्र की कोटि में परिगणित किया जाना ही उपयुक्त प्रतीत होता है। यह गद्यात्मक रचना है।

(5) **वशिष्ठ धर्मशास्त्र**—इस रचना में तीस अध्याय हैं। अन्तिम पांच अध्याय बाद की रचना मानी जाती है। रचना गद्य-पद्य उभयात्मक है। पद्य में त्रिष्टुप् छन्द का ही मुख्यतः इसमें प्रयोग हुआ है। इसकी धर्मसूत्र सम्बन्धी सामग्री प्राचीनतम है। वैवाहिक विधियों में आपस्तम्ब धर्मसूत्र की भांति केवल 6 विधियों को ही इसमें स्थान दिया गया है।

(6) **मानव धर्मसूत्र**—इस धर्मसूत्र के अनेक उद्धरण वशिष्ठ धर्मशास्त्र एवं मनुस्मृति में पाये जाते हैं।

(7) **वैखानिक धर्मसूत्र**—यह कृति चार प्रश्नों में विभक्त है। इसमें आश्रम चतुष्टय के विभिन्न कर्तव्यों की विधिवत् विवेचना है। संन्यास आश्रम का विस्तार से वर्णन है। मान्यता की दृष्टि से विष्णु धर्म-सम्प्रदाय से इनका अधिक सम्बन्ध है। विषय की दृष्टि से इसे धर्मसूत्र की अपेक्षा गृह्य-धर्मसूत्र कहना अधिक संगत होगा। यह ईसा की तृतीय शताब्दी से पूर्व की रचना प्रतीत नहीं होता है।

शुत्वसूत्र

ये ग्रंथ क्रियात्मक अधिक हैं। इनमें आपस्तम्ब सम्प्रदाय के कल्पसूत्र के अन्तिम 30वें प्रश्न का ही विवेचन है। इनमें यज्ञवेदिका निर्माण सम्बन्धी विधियों का उल्लेख है।

वेदांग साहित्य

सूत्रात्मक शैली में निर्मित वैदिक साहित्य का एक और अंग है, जिसे वेदांग साहित्य की संज्ञा प्रदान की गई है। वेद से स्वरूप तथा उसके अर्थ के संरक्षण के निमित्त ही वेदांग साहित्य का प्रणयन हुआ है। मुण्डकोपनिषद् में उपलब्ध छः वेदांगों के नाम और उनका विधिवत् विवेचन सिद्ध करता है कि इस साहित्य का उदय उपनिषद् काल में ही हो चुका था। इन अंगों का नाम है—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष।

शिक्षा—शिक्षा का सर्वप्रथम उल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक में दृष्टिगोचर होता है। उसमें शिक्षा के इन अंगों का अध्ययन स्वीकृत किया गया है—(1) वर्ण, (2) स्वर, (3) मात्रा, (4) बल, (5) साम, (6) सन्तान। प्रथम तीन अंग अपने अभिधान के अनुरूप ही भावाभिव्यक्ति करते हैं। बल का आशय स्थान एवं प्रयत्न के आधार पर स्वरों से है। **साम** का अर्थ है निर्दोष एवं माधुर्यादि गुणों के साथ स्पष्ट उच्चारण। **सन्तान** का अर्थ है पदों की अतिशय संहिता अर्थात् सन्निधि। शिक्षा का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—वह विद्या, जो स्वर, वर्ण आदि उच्चारण के प्रकार का उपदेश दे—**स्वर उच्चारण प्रकारो यत्र शिक्ष्यते सा शिक्षा**। इस प्रकार शिक्षा नामक अंग वैदिक साहित्य के अध्ययनाध्यापन की विधि का निर्देश करता है। वेदों के अध्ययन में स्वरों का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वर की अशुद्धि से महान् अनर्थ होने की सम्भावना रहती है। पाणिनीय शिक्षा में एक स्थान पर लिखा है कि जो मन्त्र स्वर से या वर्ण से हीन होता है, वह मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता है। वह तो वाणी का वज्र बनकर यजमान का ही घातक होता है। उदाहरण के लिए जैसे इन्द्र शत्रु शब्द यजमान का ही घातक हुआ था।

ध्वनि शिक्षा का प्राचीनतम निर्देशन वैदिक संहिता पाठकों में उपलब्ध होता है। पदपाठ का सन्निवेश भी ध्वनि शिक्षा के ही अन्तर्गत माना जाता है। लेकिन वास्तविक रूप में वैदिक शिक्षा का प्रतिनिधित्व प्रातिशाख्य साहित्य में ही प्राप्त होता है। इन प्रातिशाख्य ग्रंथों में वैदिक संहिता पाठ एवं पद पाठ का उचित रूप में निर्देश किया गया है। प्रातिशाख्यों का रचनाकाल पाणिनि पूर्व माना जाता है। वैदिक प्रातिशाख्य निम्न हैं—

(1) **ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य**—इस प्रातिशाख्य में तीन अध्याय हैं। आश्वलायन के गुरु शौनक इसके कर्ता माने जाते हैं। अन्त में उपलेख नामक एक भाग में कुछ परिशिष्टों का भी समावेश उपलब्ध होता है।

(2) **अथर्ववेद के प्रातिशाख्य**—अथर्व के तीन प्रातिशाख्य प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम शौनक सम्प्रदाय का जिसमें चार अध्याय हैं और जो डॉ. हिवटनी के द्वारा सम्पादित एवं अनूदित होकर प्रकाशित भी हो चुका है। अथर्व का दूसरा प्रातिशाख्य “अथर्ववेद प्रातिशाख्य सूत्र” विश्वबन्धुशास्त्री के द्वारा सम्पादित होकर पंजाब विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है। यह एक स्वल्पकाय रचना है, जिसमें अथर्ववेद के कतिपय विषयों का ही उल्लेख है। तीसरा अथर्व प्रातिशाख्य है जो लाहौर से भूमिका एवं टिप्पणी सहित प्रकाशित हुआ है।

(3) **वाजसनेयी प्रातिशाख्य**—यह यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता का प्रातिशाख्य है। इसमें आठ अध्याय हैं और कात्यायन ने इसकी रचना की है। इसमें शौनक आदि कतिपय पूर्ववर्ती ऋषियों का भी उल्लेख किया गया है।

(4) **तैत्तिरीय प्रातिशाख्य**—यह यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता से सम्बद्ध है; इसमें प्रातिशाख्य सम्बन्धी नियमों के अतिरिक्त लगभग बीस ऋषियों के अश्रुतपूर्व नाम भी मिलते हैं।

सामवेद के मुख्य प्रातिशाख्य दो ही हैं—(1) पुष्पसूत्र—इनका प्रणयन पुष्प ऋषि द्वारा हुआ है। इसमें दस प्रपाठक हैं तथा उपाध्याय अजातशत्रु ने इस पर एक भाष्य भी लिखा है। (2) ऋक्तन्त्र—यह सामवेद की कौथुमशाखा का प्रातिशाख्य है। ऋक्तन्त्र व्याकरण इसका दूसरा नाम है। शाकटायन द्वारा इसकी रचना हुई।

उपर्युक्त प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य शिक्षा ग्रंथ भी हैं—(1) पाणिनीय शिक्षा—यह अत्यन्त सुप्रसिद्ध शिक्षाग्रन्थ है। (2) याज्ञवल्क्य शिक्षा—इसका सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता है। इसमें 232 पद्य हैं। (3) वाशिष्ठी शिक्षा—इसका सम्बन्ध भी वाजसनेयी संहिता से है। (4) कात्यायनी शिक्षा—इसमें केवल तेरह पद्य हैं और इन पर जयन्त स्वामी नामक विद्वान् की एक संक्षिप्त टीका भी है। (5) पाराशरी शिक्षा—इसमें एक सौ आठ पद्य हैं। (6) मण्डव्य शिक्षा—यह शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें वाजसनेयी संहिता के ओष्ठ्य-वर्णों को ही संगृहीत किया गया है। (7) अमोघनन्दिनी शिक्षा—इसमें एक सौ तीन पद्य हैं जिनमें स्वरों एवं वर्णों का सूक्ष्म विचार किया गया है। (8) माध्यन्दिनीय शिक्षा—इसमें केवल द्वित्व के नियमों का विधान किया गया है। (9) वर्णरत्न प्रदीपिका—इसमें दो सौ सत्ताईस पद्य हैं तथा भारद्वाजवंशीय अमरेश ने इसकी रचना की है। (10) केशवीय शिक्षा—इसके रचयिता आस्तिक मुनि के वंशज केशव हैं। (11) मल्लशर्म शिक्षा—इसमें पैंसठ पद्य हैं, जिनकी रचना मल्लशर्म ने की है। (12) स्वरांकुश शिक्षा—यह पच्चीस पद्यों की एक छोटी-सी रचना है, रचनाकार जयन्त स्वामी हैं। (13) षेडषश्लोकीय शिक्षा—सोलह पद्य का शिक्षा ग्रन्थ है। (14) अवसाननिर्णय शिक्षा—इसका सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से है, रचनाकाल अनन्त देव हैं। (15) स्वर-भक्ति-लक्षण शिक्षा—इसमें मुख्यतः स्वरों का विवेचन है। उसके लेखक बालकृष्ण हैं। (16) नारदीय शिक्षा—प्रस्तुत शिक्षा ग्रंथ सामवेद से संबंधित है। इस पर शोभाकर भट्ट की एक विस्तृत व्याख्या भी

उपलब्ध होती है। स्वर रहस्य विज्ञान के लिए यह अत्यन्त उपादेय शिक्षा-ग्रंथ है। (17) माण्डूकी शिक्षा—इसका सम्बन्ध अथर्ववेद से है और इसमें एक-सौ नौ पद्य पाये जाते हैं। पण्डित वनराज ने अपनी सूची में चार अन्य शिक्षा-ग्रंथों का उल्लेख किया है। इसमें याज्ञवल्क्य शिक्षा के पद्यों की संख्या 25,000 तथा गणेश सूत्र में एक लाख पच्चीस हजार पद्य हैं। भारद्वाज शिक्षा में 36,000 पद्य हैं तथा काश्यप शिक्षा में 56,000 श्लोक या सूत्र हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण शिक्षा साहित्य इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन भारत में भाषाशास्त्र का कितना सूक्ष्म एवं गम्भीर अध्ययनाध्यापन किया गया है।

व्याकरण—व्याकरण भी वेदांग का एक अन्यतम अंग है। इस अंग में सुबन्त तिङन्तपदों की व्याख्या की जाती है अर्थात् वेद का भाषाशास्त्रीय अध्ययन इसी अंग के अन्तर्गत होता है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है—**व्याक्रियन्ते शब्दाः अनेन-इति व्याकरणम्**। पदों की मीमांसा करने वाला शास्त्र ही व्याकरण है। व्याकरण को वेदपुरुष का मुख कहा गया है। **मुखं व्याकरणं स्मृतम्**। ऋग्वेद में व्याकरण का रूपक वृषभ से जोड़ा गया है। इस व्याकरण वृषभ के चार सींग हैं, नाम आख्यात उपसर्ग तथा निपात। तीनों काल—भूत, भविष्य, वर्तमान ही इसके चरण हैं। सुप् तिङ् दो सिर हैं। सात विभक्तियां ही इसके हाथ हैं। यह व्याकरण वृषभ, उर, कण्ठ और सिर—तीन स्थानों से बंधा हुआ है।

गोपथ ब्राह्मण के एक अवतरण से सिद्ध हो जाता है कि व्याकरण शास्त्र का उदय पुरातन है। वहां स्पष्ट ही उल्लेख मिलता है—**ओंकारः प्रच्छामः को धातु? किम्प्रातिपदिकम्? किमाख्यातम्? किंलिंगम्? किं वचनम्? का विभक्तिः? कः प्रत्यय? कः स्वरः? कः उपसर्गो निपातः? किं वै व्याकरणम्? को विकारः? को विकारी? कति मात्रा? कति वर्णा? कतिपदाः? कः संयोगः? किं स्थानानुप्रदायकरणम्? शिक्षकाः किमुच्चारयन्ति? किं छन्दः? को वर्णः इति पूर्व प्रश्नाः?**

महर्षि शाकटायन ने व्याकरण के उद्भव की चर्चा करते हुए ऋक्तन्त्र में लिखा है कि ब्रह्मा ने सर्वप्रथम व्याकरण का उपदेश बृहस्पति को दिया, उसने इन्द्र को, इन्द्र ने भारद्वाज को, भारद्वाज ने ऋषियों को और ऋषियों ने ब्राह्मण को दिया।

वर्तमान में वेदांग का प्रतिनिधित्व करने वाला पाणिनीय व्याकरण ही उपलब्ध है। महर्षि पाणिनि ने अपने व्याकरण की रचना 4000 अल्पाक्षर सूत्रों में की है। पाणिनि की अष्टाध्यायी व्याकरण की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक रचना है। इसके सूत्रों में अनेक ऋषियों के नामों का भी उल्लेख हुआ है। वैयाकरणों में पाणिनि के पश्चात् व्याडि का नाम लिया जाता है। नागेश के कथनानुसार व्याडि ने एक लाख श्लोक प्रमाण व्याकरण की रचना की थी। व्याडि के पश्चात् निरुक्तकार यास्क का प्रादुर्भाव हुआ। यास्क के पश्चात् कात्यायन एवं इनके पश्चात् पतंजलि का उल्लेख मिलता है।

आचार्य वररुचि ने व्याकरण शास्त्र के महत्त्व का विवेचन करते हुए इसके पांच प्रधान प्रयोजन बतलाये हैं। महर्षि पतंजलि ने भी महाभाष्य में व्याकरण शास्त्र के तेरह प्रयोजनों का उल्लेख किया है। वररुचि के अनुसार व्याकरण के मुख्य पांच प्रयोजन निम्नलिखित हैं—(1) रक्षा, (2) ऊह, (3) आगम, (4) लघु तथा (5) असन्देह। व्याकरण का प्रधान उद्देश्य वेदों की रक्षा करना है। वेदों की रक्षा पद, वर्ण, मात्रा के उचित उच्चारण तथा प्रयोग से ही संभव है। ऊह का अर्थ है—नूतन पदों की कल्पना। यह व्याकरण शास्त्र के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। स्वयं श्रुति ही व्याकरण के अध्ययन की अनिवार्यता की बोधक है। ब्राह्मण का परम कर्तव्य षडंग का अध्ययन है। षडंगों में भी व्याकरण मुख्य है। लघुता के लिए भी व्याकरण पढ़ना चाहिए। संस्कृत भाषा अपार समुद्र जलराशि के समान है। जन्म-जन्मान्तरों में भी उसका पूर्ण ज्ञान संभव नहीं है। व्याकरण ही वह लघु उपाय है जिसके आश्रय से हम ज्ञानोपार्जन सहज ही में कर सकते हैं। वैदिक शब्दों के विषय में उत्पन्न सन्देह का निवारण व्याकरण शास्त्र ही कर सकता है।

निरुक्त—सायण ने निरुक्त की व्याख्या करते हुए लिखा है कि “अर्थावबोधो निरपेक्षतयापदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्” अर्थज्ञान की दृष्टि से स्वतन्त्र पद संग्रह का नाम निरुक्त है। वस्तुतः निरुक्त निघण्टु की टीका है और निघण्टु में वैदिक क्लिष्ट पदों का संग्रह किया गया है।

महाभारत के एक उल्लेख के अनुसार काश्यप को निघण्टु का एक रचनाकार माना जाता है। निघण्टु में पांच अध्याय हैं। प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक काण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। दूसरे अध्याय का अपर नाम एकपदिक भी है। चतुर्थ से षष्ठ अध्याय नैगमकाण्ड तथा सप्तम से द्वादश अध्याय दैवतकाण्ड कहलाते हैं।

प्रथम तीन अध्यायों में पृथ्वी स्थानीय पदों का संग्रह किया गया है। नैगमकाण्ड में इस प्रकार के शब्दों को संगृहीत किया गया है, जिनके प्रकृति प्रत्यय की कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती। लिखा है—“अनवगत संस्कारश्च निगमान्” दैवत काण्ड में पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग के देवताओं का वर्गीकरण तथा उनका विवेचन किया गया है। निरुक्त को पढ़कर हमारा सहज अनुमान यह होता है कि वैदिक व्याकरण का प्रारम्भ यहीं से होता है।

आजकल प्राप्त निघण्टु के व्याख्या कर्ता हैं—देवराज यज्वा। क्योंकि सायण ने अपने ऋग्वेद भाष्य में निघण्टु भाष्य के वचनों का उल्लेख किया है। अतः देवराज यज्वा सायण के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। सायण ने अपने भाष्य के उपोद्घात में क्षीरस्वामी तथा अनन्य आचार्य की निघण्टु व्याख्याओं का भी उल्लेख किया है।

दुर्गाचार्य ने अपने से पूर्व चौदह निरुक्तकारों तथा यास्क ने बारह निरुक्तकारों का उल्लेख किया है। तेरहवें निरुक्तकार स्वयं यास्क हैं। वृहदेवता तथा पुराणों में शाकपूराण नामक निरुक्तकार को यास्क के विरुद्ध मत प्रदर्शित

करने वाला बताया गया है। आजकल यास्क निर्मित निरुक्त ही वेदांग का प्रतिनिधित्व करता है।

छन्द—पाणिनि ने अपनी “पाणिनी शिक्षा” में छन्द को वेद का पाद बतलाया है। “छन्दः पादौ तु वेदस्य” तथा कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी में अक्षर परिमाण को ही छन्द का लक्षण निर्दिष्ट किया है। “यदक्षर परिमाणं तच्छन्दः” यद्यपि छन्द का सर्वप्रथम उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है, परन्तु उनका विधिवत् विवेचन निम्नांकित रचनाओं में उपलब्ध होता है—(1) शांखायन श्रौतसूत्र, (2) ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अन्तिम तीन अध्यायों में, (3) सामवेद के कुछ सूत्र ग्रन्थों में इसके अतिरिक्त पिंगल छन्द सूत्र में भी वैदिक छन्दों का कुछ निरूपण हुआ है। कात्यायन कृत अनुक्रमणी में भी वैदिक छन्दों की व्याख्या की गई है। कात्यायन ने वैदिक छन्दों की निम्नांकित संख्या निर्धारित की है—गायत्री 2467, उष्णिक 341, अनुष्टुप् 865, वृहती 181, पंक्ति 312, त्रिष्टुप् 4253, जगती 1358। इसके अतिरिक्त अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी आदि में भी निबद्ध 302 के लगभग अन्य मन्त्र भी हैं।

लौकिक छन्दों के विकास की गाथा भी इन्हीं वैदिक छन्दों में निहित है। पण्डित धनराज ने निम्नलिखित छन्द ग्रन्थों के नाम और दिए हैं—

- (i) छन्दोर्णव—इसमें एक लाख बत्तीस हजार पद्य हैं।
- (ii) विष्णुसूत्र—इसमें पच्चीस हजार पद्य हैं।
- (iii) छन्दो रहस्य—इसमें सोलह हजार पद्य हैं।
- (iv) छन्द प्रभाकर—बारह हजार पद्य प्रमाण वाली रचना है।
- (v) छन्द प्रवेश—बत्तीस हजार श्लोकयुक्त रचना है।
- (vi) छन्दो रत्नाकर—इसमें सात हजार श्लोक हैं।

ज्योतिष—ज्योतिष भी एक वेदांग है। याज्ञिक विधि-विधान में तिथि, नक्षत्र, पक्ष, मास, ऋतु, सम्वत्सर आदि के ज्ञान की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि ज्योतिष को वेदांग का एक अंग माना गया है।

वेदांग ज्योतिष के प्रतिनिधि दो ग्रंथ उपलब्ध होते हैं—एक, यजुष् ज्योतिष—जिसका यजुर्वेद से सम्बन्ध है; दूसरा ज्योतिष—जिसका ऋग्वेद से सम्बन्ध है। प्रथम में तैत्तलिस तथा द्वितीय में छत्तीस पद्य हैं। इनमें सत्ताईस काल के ज्योतिष की उपलब्धियों का वर्णन है।

वेदांग ज्योतिष के कर्ता का नाम लगभग बतलाया जाता है। इसमें सत्ताईस नक्षत्रों की गणना की गई है। परवर्ती काल के ज्योतिष ग्रन्थों में वराहमिहिर का ‘सूर्य सिद्धान्त’ उल्लेखनीय है। इनके पहले पाराशर एवं गर्ग की प्रख्यात ज्योतिर्विदों में गणना की जाती रही है और भी बाद के आचार्यों में आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य आदि ने पर्याप्त ख्याति अर्जित की है।

वैदिक, संस्कृति, सभ्यता एवं समाज

विश्व के इतिहास पर विहंगम दृष्टिपात करने से हम इस निष्कर्ष पर बिना किसी सन्देह के पहुंचते हैं कि विश्व में प्राप्त होने वाली समस्त संस्कृतियों में यदि कोई प्राचीनतम संस्कृति है तो वह वैदिक संस्कृति ही है। संसार के अन्य राष्ट्र जब अज्ञानान्धकार में निमग्न थे, उस समय वैदिक आर्य सम्पूर्ण कला-कौशलों के विशेषज्ञ थे। इस तथ्य को भले ही विश्व के शिक्षाभिमानि दुराग्रह के कारण स्वीकार न करें; किन्तु उन्हें पाश्चात्य आलोचना विन्टरनिट्ज के हृदयोद्गारों को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिए—

If we wish to learn the beginning of own culture, if we wish to understand the oldest Indo-European Culture, we must go to India where the oldest literature of an Indo-European people is preserved.

आज भी भारतीय संस्कृति वस्तुतः वैदिक संस्कृति के बहुमुखी व्यापक, तथा शाश्वतिक प्रभाव को लेकर जीवन-यात्रा कर रही है। इसके तत्त्व इतने पुष्ट हैं कि वह विशाल जीवन-यात्रा में कभी पथभ्रष्ट नहीं हुई है। इस संस्कृति के तत्त्व प्राचीनतम वैदिक संस्कृति के तत्त्व हैं, जो कि विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। उस संस्कृति की प्राचीनता की घोषणा विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ वेद स्वयं कर रहे हैं—“सा प्रथमा संस्कृतिः विश्ववारा”। विश्व के द्वारा वरणीय अर्थात् आनन्ददायिनी संस्कृति वैदिक संस्कृति ही है।

संस्कृति का समानान्तर एक अन्य शब्द है—सभ्यता। किन्तु सभ्यता एवं संस्कृति इन दोनों ही शब्दों में अन्तर है। सभ्यता से अभिप्राय मानव की भौतिक विचारधारा से तथा संस्कृति शब्द मानव के आध्यात्मिक एवं मानसिक क्षेत्र के विकास का सूचक है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मानव-जीवन में अध्यात्म का महत्त्व भी स्वाभाविक है। भौतिक विकास से शारीरिक क्षुधा तृप्त होती है किन्तु आत्मा अतृप्त ही रहती है। इसी आत्मा से सम्बद्ध विकास के लिए किये गये कार्य संस्कृति के अन्तर्गत गृहीत होते हैं। मनुष्य केवल भौतिक परिस्थितियों से सन्तुष्ट नहीं हो सकता है। वह केवल भोजन से ही अपनी जीवन-यात्रा पूर्ण नहीं कर सकता है। शरीर के साथ मन और आत्मा भी है। भौतिक विकास से शारीरिक क्षुधा की तृप्ति तो सम्भव है; किन्तु मन एवं आत्मा सर्वथा अतृप्त ही रहेंगे। मन एवं आत्मा की तृप्ति के लिए मानवीय विकास एवं उन्नति को हम संस्कृति कहें तो अनुपयुक्त न होगा। मानवीय जिज्ञासा का परिणाम धर्म और दर्शन का उदय है। मनुष्य सौन्दर्य तत्त्व की खोज में लीन होकर संगीत, साहित्य आदि अनेक कलाओं को जन्म एवं विकास प्रदान करता है।

इस प्रकार मानसिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति के द्योतक तत्त्व को हम संस्कृति का अंग कहें तो अनुपयुक्त न होगा। पारिभाषिक रूप में इसे हम यों कह सकते हैं—

किसी समाज, देश या राष्ट्र के मानवों के धर्म, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान से सम्बद्ध क्रियाकलाप तथा आदर्श, सभ्यता, संस्कार—इन सभी का जो सामंजस्य है वही संस्कृति है अथवा स्थूल रूप से संस्कारों का नाम ही संस्कृति है जो कि दुर्गुण, दुर्व्यसन, पाप तथा भावनाओं को हृदय से निकालकर निष्पाप तथा शुभ गुणों से युक्त करती है। संस्कृति का निर्माण सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से वितन् प्रत्यय के योग से होता है। इस प्रकार संस्कार, संस्कृत एवं संस्कृति—तीनों शब्दों का मूल एक ही है तथा अर्थ है—संवारना तथा शुद्ध करना।

वैदिक संस्कृति में मानव का जीवन उल्लासमय तथा आशामय था। निरन्तर आगे बढ़ने की लालसा थी। यत्र-तत्र-सर्वत्र वैदिक मन्त्रों में यही ध्वनि प्रतिध्वनित होती है। जिस प्रकार परवर्तीकाल में मानव को निराशावादी एवं पलायनवादी तक बनना पड़ा, उसका वैदिक काल में नामोनिशान न था। “वैदिक विचारधारा के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य दुःख का अभावरूप मुक्ति या मोक्ष जैसा न होकर निश्चित रूप भावात्मक ही है। वह चरम लक्ष्य केवल अमृतत्व आनन्त्य या निश्चयस् ही कहा जा सकता है। वैदिक ऋषियों ने सर्वदा प्रकृति माता की गोद में क्रीड़ा करने की कामना की है। उनके लालन-पालन तथा पोषण में अमृतत्व के आनन्द की अनुभूति की है। यही नहीं, प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों में निहित प्रसादनी शक्ति को अपने मन में आविर्भूत होने की कामना की है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में तो बहुत ही स्पष्ट शब्दों में—

पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्।

बुध्येम शरदः शतम्। रोहेम शरदः शतम्।

पूषेम शरदः शतम्। भवेम शरदः शतम्।

भूषेम शरदः शतम्। भूयसी शरदः शतम्।

अर्थात् सौ वर्ष से भी अधिक जीने, देखने, सुनने, ज्ञानार्जन करने, बढ़ने, पुष्ट होने और आनन्दमय जीवन की कितनी कमनीय कामना है। जीवन के विषय में यह सुखद स्वरूप, भव्य और स्वर्गीय भावना कितनी उत्कृष्ट है। भारतीय संस्कृति की लम्बी परम्परा में यह निःसंदेह अद्वितीय है और गंगा की लम्बी धारा की परम्परा में गंगोत्तरी के जल के समान दिव्य और पवित्र है। इस सांस्कृतिक अभ्युदय काल में आर्यजाति उत्साहमय स्वस्थ वातावरण में यशस्वी जीवन की विजय-यात्रा में अग्रसर हो रहा थी। इस पृष्ठभूमि के उपरान्त हम वैदिक संस्कृति के कुछ मूलाधार तत्त्वों का विवेचन संक्षेप में करेंगे। जिनसे हमें पता चलेगा कि वर्तमान भारतीय संस्कृति के निर्माण के मूल में किन-किन तत्त्वों का योग है।

अध्यात्मवाद

वैदिक संस्कृति की प्रथम विशेषता या मूलाधार ऋत और सत्य की भावना है। समस्त संसार प्राकृतिक शक्तियों के अधीन नियमानुकूल चलायमान है। इन नियमों में कहीं वैषम्य नहीं है। इसी विषमता के अभाव को ऋत कहा जाता है। मानव जीवन के प्रेरक नैतिक तत्त्वों का नाम सत्य है।

यह अध्यात्मवाद हमें भोगवाद से दूर कर ईश्वर-विषयक ज्ञान की ओर ले जाता है। यह हमें प्रकृति से प्रेम करना भी सिखाता है। ईशोपनिषद् के आरम्भ में जगत्तत्त्व की खोज में लीन ऋषियों ने अपनी विचारधारा को क्या आध्यात्मिक, क्या सामाजिक, क्या आर्थिक तथा क्या ही शारीरिक—सभी क्षेत्रों के मानवीय कर्तव्यों को सूत्र रूप में निबद्ध किया है—

**ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥**

इस प्रकार ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना ही आस्तिकता है। ईश्वर सर्वव्यापक है अर्थात् पांचों तत्त्वों पर एक महान् शक्ति का शासन है। यह स्वीकार कर लेने पर—मानव पाप-कार्य के लिए जो एकान्त चाहता है, उस एकान्त का तो सर्वत्र ही अभाव होगा, क्योंकि ईश्वर सर्वव्यापक है। इस प्रकार आत्मिक उन्नति के लिए इस ईश्वर की सर्वव्यापकता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना ही होगा। इस सिद्धान्त को हृदयंगम कर लेने से आत्मा में शान्ति का आविर्भाव होगा। विश्व की अशान्ति का शमन होगा, विश्व-बन्धुत्व का प्रसार होगा। यह आस्तिकवाद का सिद्धान्त कि ईश्वर सर्वव्यापक है, आज भी विश्व के मनुष्यों को अनुप्राणित कर रहा है।

इस आस्तिकवाद को अर्थात् ईश्वर की सत्ता को पाश्चात्य वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। **जेम्स जीन्स** महोदय सृष्टि की रचना में आदि कारणभूत एक अनन्त शक्ति को स्वीकार करते हैं।

त्यागभाव—इस प्रकार एक महान् शक्ति की सत्ता भारतीय ही नहीं, पाश्चात्य वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। वैदिक संस्कृति का दूसरा आधार **त्यागभाव** है। संसार का भोग त्यागभाव से करना चाहिए। पदार्थों के उपभोग का इस संस्कृति में निषेध नहीं है, अपितु भोगवाद में लिप्त हो जाने का निषेध है। यह सिद्धान्त जीवन जलयान के लिए प्रकाश-स्तम्भ है, जिसमें जीवन जलयान “भोगवाद रूपी चट्टानों से चकनाचूर होने से बच जाए।” यही त्यागभाव **‘मागृधः कस्यस्विद्धनम्’** का उपदेश देता हुआ मानवमात्र को अशान्ति से शान्ति की ओर ले जाने का यत्न करता है।

कर्मवाद—तीसरा आधार है कर्मवाद—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा ।

एवंत्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ —ईशो. 1/2

कर्मशील रहते हुए सौ वर्ष जीवन की कामना। कर्मयोग के अतिरिक्त जीवन साफल्य का अन्त कोई श्रेष्ठ मार्ग नहीं है। भगवान् कृष्ण ने भी गीता में अर्जुन को इसी का उपदेश दिया है। निष्कर्मण्यता, पाप एवं अभिशाप है। श्रम न करने से आयु क्षीण होती है। पड़े-पड़े लोहे में भी जंग लग जाती है फिर मांस-मज्जा, अस्थि, रक्तादि से निर्मित मानव का कहना ही क्या? इस प्रकार यह कर्मवाद मानव को कर्मण्यता तथा आशावाद का सन्देश देता है। यह कर्म ही जीवन है।

आत्मविश्वास—वैदिक संस्कृति का आधार आत्म-विश्वास है, आत्मा का हनन करना पाप है, यजुर्वेदीय चालीसवें अध्याय का यह मन्त्र भी यही कहता है—

“असुर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।

तांस्तं प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ —ईशो. 1/3

वे आत्मघाती हैं, जो स्वार्थ-संकुचित वृत्ति वाले तथा भोगपरायण हैं। आत्महननकर्ता अन्धकारवृत्त लोको में जाकर नरक के भागी होते हैं। आत्मविश्वास के बिना जीवन व्यर्थ है। इस बौद्धिक एवं कर्म संघर्षरत युग में मानव की अशान्ति का मूल कारण आत्मविश्वास की उपेक्षा ही है।

पुनर्जन्मवाद—वैदिक संस्कृति का पांचवां तत्त्व पुनर्जन्मवाद है। यह पारलौकिक भावना ही मानव को शुभ आचरण करने का उपदेश देती है। इसी भावना से प्रेरित हो, भारतीय वीर एवं वीरांगनाएँ अपने धर्म तथा देश की रक्षा के लिए हंसते हुए प्राणार्पण कर देते थे। पुनर्जन्मावादी यह सोचता है कि ‘अयमेव लोकः न, परः अपि’, इसका परिणाम होता है कि मानव सदाचार आदि का पालन करता हुआ अगले जीवन को सुखद बनाने की चेष्टा करता है।

विश्वबन्धुत्व—वैदिक संस्कृति में विश्वबन्धुत्व की भावना का भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी आधार पर ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ तथा ‘आत्मवत्सर्वभूतेषु’ की भावना परवर्ती काल में पल्लवित हुई। जिसका परिणाम राजा एवं रंक में स्नेह भावना का संचार करता है। उदाहरणस्वरूप कृष्ण-सुदामा की मैत्री को हम ले सकते हैं, जो कि भारतीय इतिहास में अमर है। विश्वशान्ति और विश्वबन्धुत्व की उदात्त कमनीय भावना का निदर्शन इस मन्त्र में मिलता है—**मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।** इसी प्रकार वैदिक साम्यवाद की उदात्त भावना—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

देवा भागं यथापूर्वं संजानानामुपासते॥

अर्थात् हे भगवान्! हम सभी समान भाव से विश्व में गति करें, श्रेष्ठ भाषण करें, हमारे हृदय भी कल्याणकारी विचार वाले हों। जिस प्रकार प्राचीन काल में देव कल्याणकारी विचारों की ही उपासना करते थे, ऐसे ही हम भी बनें। यही नहीं, विश्व-कल्याण की कामना ही इस संस्कृति का मूल मंत्र है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभागभवेत्॥

विश्व के प्राणीमात्र सुखी हों; प्राणी-मात्र निरोग हों, सभी मंगलदर्शी हों; सभी सुखी हों। इसी प्रकार “पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः” मानवमात्र की परस्पर रक्षा और सहायता करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। इस प्रकार की उदार घोषणाएँ वैदिक संस्कृति की हैं। विश्व की अन्यान्य संस्कृतियों में इसका अभाव ही है। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि वैदिक संस्कृति विश्व को सुपथ का मार्ग अपनाने का ही उपदेश देती है—

“असतो मा सद्गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्मा अमृतं गमयेति।”

समन्वयवाद एवं विचार सहिष्णुता भी भारतीय संस्कृति का एक आधार है, जिसमें आर्य-अनार्य संघर्ष के उपरान्त अनार्यों का मिलन सहिष्णुता का ही परिचायक है। यही कारण है कि भारत अनेक जातियों का एक राष्ट्र है तथा शैव, शाक्त, वैष्णव, ईसाई, जैन, बौद्ध आदि अनेक धर्मों का एक धर्म है। वह उसी प्रकार जैसे समुद्र नदियों (जल) का घर होता है—

स यथा सर्वसामपां समुद्रमेकायनम्।

भारत में सभी धर्म एवं सभी जाति समान भाव से फलती एवं फूलती हैं। आज की संस्कृति का निर्माण केवल वेदों से ही नहीं हुआ है। अपितु आगामों से भी हुआ है। यह निगमागमसम्मत संस्कृति है। भारत में प्राचीन काल से ही विचार सहिष्णुता एवं धार्मिक विश्वास तथा पूजा-विधियों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है। इसका स्पष्ट उदाहरण ऋग्वेद के इस उदाहरण में प्राप्त है—“**एकं सद्भिर्प्रा बहुधा वदन्ति**” अर्थात् वह शक्ति एक ही है; किन्तु विद्वान् उसे विभिन्न नामों से अभिहित करते हैं। गीता में भी इसी विचारधारा का प्रतिपादन हुआ है—“**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**” अर्थात् जो जिस रूप में भजन करते हैं, मैं उन्हें उसी रूप में प्राप्त होता हूँ।

पुरुषार्थ चतुष्टय—सर्वांगीण अभ्युदय का इस संस्कृति में विशेष महत्त्व है, इसीलिए पुरुषार्थ चतुष्टय धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को समान भाव से महत्त्व प्राप्त है। धर्म इस संस्कृति का प्राणभूत सिद्धान्त है। धर्म ही उन्नति का मूल है तथा जन्म-जन्मान्तर का साथी; यह धारणा प्रत्येक भारतीय के हृदय में बद्धमूल है—“**धर्मः सखा परमहो परलोक याने**”, धर्म के बिना कार्य संचालन असम्भव है। काम सृष्टि निर्माण का मूल है। मोक्ष भारतीय संस्कृति एवं शिक्षा का मूल हेतु है। इस प्रकार इस संस्कृति में ऐहिक तथा पारलौकिक उन्नति के साथ व्यक्तिगत जीवन में शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक उन्नति को समान महत्त्व प्राप्त है। भारत में सर्वांगीण विकास के लिए चार वर्ण एवं चार आश्रमों की व्यवस्था की थी।

आशावाद—भारतीय विचारधारा में दार्शनिक सम्प्रदायों के उदय के साथ ही संसार असार है, जीवन क्षणभंगुर एवं नश्वर है, जैसी निराशावादी भावनाएं पल्लवित हो चुकी थीं। इन भावनाओं ने मानवीय विकास में एक बड़ा व्याघात उपस्थित किया था। किन्तु वैदिक संस्कृति एवं साहित्य आशावादी भावनाओं से अनुप्राणित है। यत्र-तत्र-सर्वत्र जीवन के अभ्युदय एवं सौ वर्ष जीने की कामना वेदमन्त्रों में मिलती है। वैदिक ऋषियों की जीवन के प्रति सदैव उत्साहपूर्ण धारणा रही है। समस्त वैदिक साहित्य अमृतमय, प्राण-संजीवन वचनों से सम्भूत है। यही नहीं, वेद में भी कहा है—“आशा हि परमं ज्योति नैराशयं परमं तमः” तथा “चरैवेति” के रूप में चलते रहने का उपदेश भी वैदिक संस्कृति का ही है। आशय यही है कि दार्शनिक सम्प्रदायों ने निराशावादी भावना का प्रसार यद्यपि किया था; किन्तु वैदिक साहित्य की आशावादी भावना के समक्ष वह पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त न कर सका।

वैदिक संस्कृति में मानव मात्र के कल्याण की भावना का समावेश है, स्वस्तिवाचनप्रकरण के संकलित मन्त्रों में इसी भावना का पल्लवन हुआ है। भगवान् से सर्वत्र इस प्रकार की कामना की गई है कि—भगवान् जो भद्र या कल्याण है, उसे हमें प्राप्त कराइये; भद्र या कल्याणमय मार्ग पर चलते हुए हम पूर्ण जीवन को प्राप्त करें। हे देव! हम कानों से भद्र सुनें और आंखों से भद्र ही देखें। भगवान्! हमें प्रेरणा दीजिए कि हमारा मन सर्वदा भद्र मार्ग का ही अनुसरण करे तथा भगवान्! हमें निरन्तर कल्याण की प्राप्ति कराइये।

वैदिक संस्कृति में मानवमात्र का लक्ष्य, शिक्षा का लक्ष्य एकमात्र ब्रह्म की प्राप्ति है—“ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते” तथा उस ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है तप—तपसा चीयते ब्रह्म। तथा तपसा कित्विषं हन्ति।।

तप के द्वारा पाप नष्ट होते हैं। तप से हमारा तात्पर्य यम नियमादि के पालन से है। यम-नियम भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व हैं। इनके पालन किए बिना मानव-जीवन मात्र पशु-जीवन है। निर्दिष्ट ब्रह्म अन्तरात्मा का विषय है।

उपरिनिर्दिष्ट तत्त्व वैदिक संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्त हैं, जिनका स्थाली-पुलाकन्याय में संक्षिप्त परिचय मात्र ही प्रस्तुत किया गया है। वैदिक संस्कृति मानव को मानवता का संदेश देती है। वैदिक संस्कृति के ये तत्त्व चरमोत्कर्ष के द्योतक हैं। इसीलिए यह संस्कृति विश्व की अन्यान्य संस्कृतियों को देखते हुए आज भी जीवित है।

हमारी यही अमर संस्कृति चिरकाल से विश्व का पथ-प्रदर्शन करती रही है और आज ही नहीं; भविष्य में भी अक्षुण्ण बनी रहकर विश्व का मार्ग प्रदर्शन करे, यही एक कामना है।

सामाजिक स्थिति

वैदिक कालीन सामाजिक स्थिति उन्नत दशा में थी। आर्य-अनार्य संघर्ष के पश्चात् आर्यों के समाज की जो रूपरेखा तैयार हुई, यही उनकी विकसित सामाजिक व्यवस्था थी। आर्यों के सामाजिक जीवन एवं संगठन पर सर्वाधिक प्रभाव आर्य-अनार्य सम्पर्क का ही पड़ा है।

वैदिक सभ्यता के नयनोन्मीलन काल में मानव मात्र दो वर्णों में विभक्त था—आर्य एवं अनार्य। आर्य धर्म इस काल में एक था, उसमें खान-पान, रोटी-बेटी का निकट सम्बन्ध था, उनमें पूर्ण व्यावसायिक स्वतन्त्रता थी, जैसा कि एक ऋषि का कहना है—“मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता पीसनहारी है, मैं कविता करता हूँ।” तथापि कुछ ऐसे तत्त्व भी प्राप्त होते हैं जो सामाजिक विकास के सिद्धान्त में तथा सामाजिक वर्गीकरण के कारणभूत हैं। ऋग्वैदिक-काल में कुछ ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ आईं, जिनसे पृथक्-पृथक् वर्गों को जन्म मिला। किन्तु वर्गों में विभक्त होने पर भी एक आस्था, एक विश्वास, एक उद्देश्य और पूर्णतः एकात्मकता थी। पुरुष सूक्त में ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य एवं शूद्र चार वर्णों का उल्लेख है। पर यह सूक्त बहुलवाद का है अतः ऋग्वेद के मुख्य भाग के रचनाकाल का चित्रण इसमें नहीं है। परन्तु आर्यों एवं दासों में वर्ण (colour) के आधार पर जातिप्रथा का उदय होता है। यह भी कहा जाता है कि जिस समय ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों का सृजन हो रहा था, उस विश्वामित्र व वशिष्ठ के समय में पुरोहित-वर्ग या राजन्य-वर्ग परम्परागत न था। विराट् पुरुष द्वारा चार वर्णों की उत्पत्ति का विवरण पुरुष सूक्त में प्राप्त है। उन्हीं के आधार पर इन वर्णों का गुणकर्मानुसार विभाजन परवर्ती काल में किया गया। द्वितीय वर्ग राजन्य था। सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इस राजन्य वर्ग का निर्माण हुआ। वैसे तो आर्यों को भारत में प्रारम्भ से ही युद्ध करने पड़े थे अतः उस काल में सभी सैनिक थे; किन्तु कालान्तर में धार्मिक यज्ञों के कर्त्ता—एक वर्ग का आविर्भाव हुआ। धार्मिक यज्ञ-यागादि की रक्षा के लिए द्वितीय राजन्य वर्ग का उदय हुआ। धार्मिक यज्ञों की रक्षा के लिए यह वर्ग शस्त्र धारण करता था। अनार्यों से आर्यों की रक्षा करता था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में लिखा है कि आर्य सर्वतः शत्रुओं से घिरे हुए हैं। इन परिस्थितियों में राजन्य वर्ग की सैनिक वर्ग की आवश्यकता नितान्त अपरिहार्य थी। सैनिकों के कार्य कठोर थे। अतः इनकी शिक्षा भी दुरुह थी। सैनिक कार्य में कुशलता पिता से पुत्र को सहज रूप में मिलती थी, क्योंकि पूर्वजों के कार्यों में कुशलता प्राप्त होना मनोवैज्ञानिक सत्य है। वैश्यों का कार्यक्षेत्र विशाल था। इसी पर समाज की व्यवस्था आधारित थी क्योंकि प्रथम दोनों वर्गों के कार्य भिन्न थे। ऋग्वेद के दशम मण्डल के अनुसार शूद्र तो “पदभ्यामजायत” थे, अतः उनका कार्य सेवा मात्र था। इसलिए समाज की जीविका आदि का निर्वाह वैश्य ही करते थे। समाज का समस्त उत्पादन एवं वितरण वैश्य वर्ण पर ही अवलम्बित था।

वैदिक काल में समाज का जो वर्गीकरण किया गया था—उसे वर्ण-व्यवस्था न कहकर वर्ग-व्यवस्था कहना अधिक समीचीन होगा। क्योंकि वह तो मात्र एक वर्गीकरण ही था। किन्तु यह सच है कि इसी वर्गीकरण में भावी वर्ण-व्यवस्था का मूल निहित था।

परिवार में **पितृप्रधान** सत्ता थी। एक-पत्नी प्रथा थी। बहुपत्नी प्रथा भी अज्ञात न थी। किन्तु बहुपत्नी प्रथा का प्रचलन राज्य-परिवारों में ही था। गृहकार्यों का पति ही सर्वेसर्वा था तथा पत्नी गृहस्वामिनी थी। पिता या पितामह कुटुम्ब का प्रधान होता था। वही गृहपति था। वही पालन-पोषण का भार वहन करता था। गृहपति का पद वंशानुगत था। वही सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता था। पशु, अश्व, स्वर्ण, आभूषण, अस्त्र, दास आदि व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में माने जाते थे। परिवार की भूमि पर भी व्यक्तिगत अधिकार होता था। भूमि नापी जाती थी, खेती के बीच मेड़ें बनाई जाती थीं। भूमि-वितरण की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि भूमि अधिक थी। सम्पत्ति का अंकन जन एवं पशु-समुदाय की अधिकता के अनुसार होता था। पिता की सम्पत्ति का अधिकारी पुत्र ही होता था, पुत्री नहीं। किन्तु पिता की एकमात्र सन्तान होने पर वह सम्पत्ति की अधिकारिणी होती थी। दत्तक पुत्र प्रथा थी। एक बात यह विशेष थी कि सम्मिलित परिवार प्रथा थी। सामूहिक उत्तरदायित्व वहन करना पड़ता था, जो कि पारिवारिक कलह का कारण बनता था। भ्राता (भरण करने वाला) पिता के बाद बहन का रक्षक होता था। भ्रातृहीन बहनों की स्थिति अच्छी नहीं थी। भाई-बहिन की शादी निषिद्ध थी। बाल-विवाह अज्ञात था। वर के वरण करने में स्वतन्त्रता थी। परिवार में पुत्र की कामना अधिक थी।

आर्यों के सामाजिक संगठन में नारी का महत्वपूर्ण स्थान था। कुमारी अवस्था तक वह पिता, भ्राता के संरक्षण में रहती थी। इसके पश्चात् पति के, पति के अभाव में पुत्र के। पर्दा-प्रथा नहीं थी। स्त्रियों को शिक्षा दी जाती थी। वे विदुषी होती थीं। विद्या के क्षेत्र में वे पुरुषों से पीछे नहीं थीं। किन्तु रणक्षेत्र में उनका प्रवेश नहीं होता था। विदुषी एवं वीर स्वभाव की नारियों को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। आदर्श विवाह केवल एक माना जाता था। विवाह पर आज के समान उत्सव मनाये जाते थे। बरात, पुरोहित, अग्निपरिक्रमा आदि सभी कुछ होता था। वधुओं का अत्यधिक सम्मान था, उनकी मंगलकामना सर्वत्र होती थी—“हे वधू! अपनी सास-ससुर को वशीभूत कर लो, अपनी ननद तथा देवरों के मध्य रानी की भांति सुशोभित हो।”

आर्यों के वस्त्र युगानुकूल ही थे। वे तीन प्रकार के वस्त्र धारण करते थे। एक तो नीवी अर्थात् धोती, दूसरा वास और तीसरा अधिवास। ऊनी तथा सूती दोनों ही प्रकार के वस्त्रों का प्रचलन था। धनसम्पन्न व्यक्ति स्वर्णग्रथित वस्त्र धारण करते थे। उत्सवों पर उज्ज्वल एवं विशेष वस्त्र धारण करने की प्रथा थी। आभूषण-प्रथा भी प्रचलित थी। आभूषणों में कुण्डल, हार, अंगद, वलय, गजरे

आदि प्रमुख थे। नारियां साज-शृंगार भी खूब करती थीं क्योंकि तेल-कंधी सभी का उल्लेख मिलता है। पुरुष भी बड़े-बड़े बाल रखते थे। दाढ़ी रखने की प्रथा थी। कुछ व्यक्ति दाढ़ी मुड़वा भी देते थे। सम्पूर्ण आर्य जाति स्वच्छ जीवन चाहती थी। ऋग्वेद में एक स्त्री चार वेणियों को रखती थी।

भोजन में दूध महत्त्वपूर्ण था। दही-घृत का भी प्रयोग होता था। “क्षीरपक्वमौदकम्” भी था। पनीर भी भक्ष्य था। रोटियां, चावल, घी के साथ खाये जाते थे। संभवतः बलि आदि के अवसर पर मृत पशुओं—भेड़, बकरी आदि का मांस भक्ष्य था। गाय के लिए अघ्न्या शब्द का प्रयोग हुआ है। सुरा-सुन्दरी का भी चमत्कार प्रचलित था। अतः यदा-कदा समाज में दुराचार भी सुनने को मिल जाता था। मधुर पेय पदार्थ सोम था, जिसके गुणगान में ऋग्वेद का नवम मण्डल भरा हुआ है।

आमोद-प्रमोद के साधनों में रथ-दौड़, घुड़-दौड़, नृत्य, संगीत प्रमुख थे। जुआ भी प्रचलित था। जुआरी की दुर्दशा का वर्णन भी प्राप्त होता है। पुरुष और स्त्रियां नृत्य भी किया करते थे। वाद्य-यन्त्रों में दुन्दुभी, वेणु आदि का उल्लेख मिलता है।

वैदिक काल सामाजिक स्थिति का अध्ययन कर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि युगानुकूल आर्यों की सामाजिक स्थिति अच्छी थी, नैतिक स्तर उन्नत था। मनुष्य सदाचारी थे। समाज में सुख-शान्ति थी।

राजनीतिक स्थिति

भारतीय सभ्यता के इतिहास में राजसंस्था चिरकाल से चली आ रही है। वैदिक काल में भी इसकी महत्त्वपूर्ण स्थिति थी। वेद-मन्त्रों को देखकर हमें यह भी आभास मिलता है कि उस काल में जनतन्त्र की भावना और जनता का भी अपने राज्य-शासन में महत्त्वपूर्ण स्थान था। राष्ट्रीय उन्नति के लिए सर्वांगीण उन्नति की सर्वत्र कामना है। कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि वैदिक भारत की शासन-व्यवस्था सुसंगठित थी। राजनीतिक अवस्था के अध्ययन के लिए हम समस्त शासन-व्यवस्था पांच विभागों में विभक्त कर देखेंगे—(1) कुटुम्ब, गृह या कुल, (2) ग्राम, (3) विश, (4) जन, (5) राष्ट्र। **कुटुम्ब**—ऋग्वैदिककालीन कौटुम्बिक जीवन अत्यधिक सुगठित था। कुटुम्ब ही राष्ट्र के शासन की इकाई था। कुटुम्ब का वृद्ध व्यक्ति गृहपति था। प्रत्येक कौटुम्बिक समस्या का समाधानकर्ता भी वही था। प्राचीन काल में प्रायः ग्राम के ग्राम एक ही कुटुम्ब के सदस्य होते हैं। **ग्राम**—जब कभी कई कुटुम्ब एक ही स्थान पर रहने लगते थे, तब वे ग्राम कहलाते थे। उन सभी व्यक्तियों की सम्मिलित व्यवस्था के लिए एक नये अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी। उसका नाम **ग्रामणी** था। ग्रामणी के निर्वाचन का आधार क्या था, इसका ऋग्वेद में किसी प्रकार का संकेत नहीं मिलता है। किन्तु शासन-व्यवस्था में ग्रामणी का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान था। ऋग्वेद में ब्रजपति शब्द का प्रयोग हुआ है। संभवतः वह ग्रामणी के लिए ही

प्रयुक्त हुआ है। विश-विश के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है। फिर भी एक स्थान पर यह आभास मिलता है कि विश एक वर्ग-विशेष था। विश का प्रधान विशपति कहलाता था। इसी विश ने वैश्य जाति का उद्भव माना जाता है। कई विश मिलकर जन बनते थे। जन-का प्रधान गोप कहा जाता था। गोप का शासन-व्यवस्था में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान था। देश के लिए राष्ट्र शब्द का व्यापक प्रयोग मिलता है। राष्ट्र शब्द से यह अनुमान सहज ही किया जाता है कि उस समय शासन-व्यवस्था सुविकसित स्थिति में थी। संघात्मक सरकार होने की भी संभावना की जा सकती है। राजा ही राष्ट्र की शासन-व्यवस्था का सर्वेसर्वा या कर्णधार होता था। ऋग्वेद में राजा शब्द का व्यापक प्रयोग हुआ है। यजुर्वेद के एक उल्लेख के अनुसार राजा की स्थिति प्रजा पर निर्भर होती है—“विशिराजा प्रतिष्ठितः” तथा हे राजन्! तुम प्रजाओं द्वारा राज्य-शासन के लिए चुने जाओ—‘त्वां विशो वृणुतां राज्याय’, अथर्ववेदीय यह उद्धरण भी इसी भाव को पुष्ट करता है कि राजा ही राष्ट्र का अधिकारी होता था। प्रजा का उसमें महत्त्वपूर्ण स्थान था। राजा शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु ऐतरेय तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में दो कथाएं आती हैं, जिनसे राजा के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश पड़ता है। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि देवासुर संग्राम में असुर विजयी हुए। उस समय देवों ने कहा कि हमारी पराजय का मुख्य कारण राजा का न होना ही है। इसलिए हमें राजा का चुनाव करना चाहिए। यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है कि देवासुर संग्राम में देव एवं असुर दोनों ने ही अपने-अपने सेनापतियों के पुत्रों को छिपा दिया। किन्तु राजा के अभाव में युद्ध कैसे हो सकता था? अतः देवों ने प्रजापति से कहा कि राजा के बिना युद्ध असम्भव है। फिर देवों ने यज्ञ किया और इन्द्र से राजा होने की प्रार्थना की तथा विजय प्राप्त की। इन पौराणिक आख्यानों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्राचीन काल में युद्ध संचालन के लिए किसी शक्तिसम्पन्न व्यक्ति की आवश्यकता होती थी। वही सुरक्षा का भार लेकर न केवल सैनिक संगठन अपितु धन-संचय, शान्ति-स्थापना व सुन्दर शासन-व्यवस्था भी करता था। ऋग्वेद में मित्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओं ने अपने राजस्व के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उससे ज्ञात होता है कि वे राजा वैभवशाली होते थे। इनका शासन सर्वत्र अप्रतिहत था। ऋग्वेद के मन्त्रों से राजा ही न्याय करता था, वही दण्ड देता था, गुप्तचरों का भी अपने शासन के लिए उपयोग करता था। राजा प्रजापालक, दीनबन्धु था। उसे जनता से उपहार भी मिलता था। ऋग्वैदिक काल में ब्राह्मण रक्ष्य थे। राजा वैभवशाली थे, सहस्र स्तम्भों से निर्मित स्वर्णिम भव्य एवं सुन्दर महल उनके निवास-स्थल थे।

ऋग्वेद के अध्ययन करने पर हमें कुछ अन्य शब्द भी मिलते हैं जिनका राज्य-शासन में योगदान स्वीकार किया जा सकता है। राजन्य-शब्द इसी प्रकार का है। इस शब्द का वेद में अत्यधिक प्रयोग किया गया है, जिसका तात्पर्य

जमींदार या राजा होता है। राजन्य निश्चित ही राजा के सहायक होते थे। स्वयं भी प्रजाहित में संलग्न रहते हैं। 'सम्राट' शब्द भी अनेकशः वेद में प्रयुक्त हुआ है। संभवतः यह किसी चक्रवर्ती राजा के लिए प्रयुक्त हुआ है। किन्तु प्रमाणाभाव में निश्चयात्मक रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता है। उस काल में राजाओं को सहायता या मन्त्रणा देने के लिए मन्त्री भी होते थे। अधिकतर मन्त्री पुरोहित वर्ग के ही थे। इन राजा के सहायकों में सर्वप्रधान पुरोहित होता था। वह राजा के सभी कार्यों में सहायक होता था। यज्ञ कार्य सहायक पुरोहित या पुरोधा होते थे। यही पुरोहित राजा का अभिन्न हृदय, मित्र, पथ-प्रदर्शक, रणक्षेत्र का साथी, मन्त्रद्रष्टा तथा स्तुतिकर्ता भी होता था। जहां पुरोहित एक ओर धार्मिक कृत्यों में प्रधान सहायक होता था, वहां वह युद्ध एवं राज्य-शासन में भी राजा का हाथ बंटाया करता था।

वेद के मन्त्रों में हमें **सभा**, **समिति** एवं **सभ्य** तीन शब्दों का और भी उल्लेख मिलता है जो कि प्रजा का प्रतिनिधित्व करने वाली इकाइयां भी थीं। इन सभा एवं समिति के प्रधान पद का अधिकारी राजा ही होता था। **लुडविग** ने लिखा है कि सभा में उच्च कुल के व्यक्ति भाग लेते थे तथा समिति में जन-साधारण। किन्तु **सिमर** की कुछ अपनी भिन्न मान्यता है। उसके अनुसार समिति में समस्त जनता भाग लेती थी; किन्तु सभा केवल गांव के लिए होती थी।

वैदिक काल में राज्यशासन के संचालन के लिए न्याय-व्यवस्था भी थी। हां, एक बात उस न्याय-व्यवस्था की विशेष थी; वह यह कि दण्ड कठोर था, खून का बदला खून ही था। मनुष्य की कीमत भी निश्चित थी। वैदिक न्याय व्यवस्था की कठोरता का संकेत हमें मनुस्मृति में मिल जाता है। ऋग्वेद में मनुष्यों के लिए बन्दीगृह भी थे। अपराध-सिद्ध के लिए जल एवं अग्नि सम्बन्धी परीक्षाएं होती थीं।

वैदिक काल का प्रमुख अपराध पशु चोरी था और कभी-कभी अन्न, वस्त्र, द्रव्य के चोरों का भी संकेत मिलत जाता है। किन्तु इन अपराधियों का पता लगने पर उन्हें कठोर दण्ड भी दिया जाता था। न्याय-व्यवस्था का यह प्रथम प्रयास था जो कि क्रमशः सुधारोन्मुख था।

युद्ध-आर्यों को युद्धप्रिय कहा जाता था। यह उनका एक विशिष्ट गुण था। ऋग्वेद में इसका पर्याप्त उल्लेख हुआ है। युद्ध विशेषतः आत्मरक्षा, विजय तथा सांस्कृतिक प्रसार के लिए किया जाता था। सेना में पैदल तथा रथों का प्रमुख स्थान था। रथों में दो, तीन, चार तक अश्व जोते जाते थे। ऋग्वेद-कालीन अस्त्रों में धनुष, बाण, कवच, तलवार, भाला, बर्छी आदि थे। राजा के नेतृत्व में सेना आक्रमण करती थी। पुरोहित उत्साह-वर्धन एवं अपने पक्ष की विजय के लिए प्रार्थनाएं करते थे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आर्यों ने अपने सुख एवं शान्ति के लिए एक संगठित शासन-व्यवस्था का निर्माण किया था।

आर्थिक स्थिति

वैदिक आर्यों के समग्र जीवन पर दृष्टि निक्षेप करने पर हम कह सकते हैं कि वे राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन में पर्याप्त विकास कर चुके थे। उनका जीवन सुव्यवस्थित जीवन था। इसलिए वैदिक आर्यों को हम सुसंस्कृत एवं सभ्य जातियों के समान ही आर्थिक जीवन के विकास के लिए पशुपालन, कृषि, गृह-उद्योग-धन्धे तथा व्यापार करते हुए पाते हैं।

आर्यों की आर्थिक अवस्था का मूलाधार **पशुपालन** ही था। सांड एवं बैलों से कृषि की जाती थी। ये पशु अन्न एवं भोज्य पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का भी कार्य करते थे। अन्य पालतू पशुओं में भेड़, बकरा, बकरी, गदहे तथा कुत्ते प्रमुख थे लेकिन सर्वाधिक महत्त्व गाय को दिया गया था। इन पशुओं के लिए चरागाह एवं चरवाहों का भी उल्लेख ऋग्वेद में मिल जाता है। इन पशुओं के स्वामित्व के चिह्न के लिए कानों पर चिन्हांकित रहता था। उस काल में प्रायशः पशुहरण किया जाता था। पशु धन में गाय के बाद घोड़े का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। घोड़े, युद्ध के अतिरिक्त रथ के खींचने के काम में आते थे।

आर्यों का जीवन **कृषक** जीवन था। पशुपालन के अतिरिक्त उनकी जीविका का साधन **कृषि** थी। कुछ ऐतिहासिकों का कहना है कि कृषि आर्यों का प्राचीनतम व्यवसाय है। जो सर्वथा सत्य है। हमें ऋग्वेद के 'कर्षण' शब्द अनेकशः मिलता है। 'कर्षण' शब्द कृष् धातु से निष्पन्न है। अतः हम यह भी कह सकते हैं कि इन दोनों जातियों के विभाजन से पूर्व भी कृषि-कर्म प्रधानता प्राप्त कर चुका था। यद्यपि आज की भांति ही बैलों से हल जोते जाते थे; किन्तु हलों में छः, आठ, बारह बैल तक जोड़ दिये जाते थे। उस काल में प्रधान खेती 'यव' तथा 'धान्य' की होती थी। यही आर्यों के प्रिय भोजन के अंग थे। सिंचाई व्यवस्था के लिए कुओं का निर्माण किया जाता था। ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक मन्त्र में लिखा है कि कूप से जल निकालकर एक बड़े तालाब या नहर में सिंचाई के लिए भर दिया जाता था। कुल्य (नाली) तथा झीलों से सिंचाई का कार्य होता था। अच्छी फसल पैदा करने के लिए उस समय खाद भी प्रयोग किया जाता था, खाद को '**करिष**' कहते थे। आशय यह है कि अच्छी प्रकार से जुताई-बुवाई करके खाद द्वारा खेतों को उर्वर बनाया जाता था। सिंचाई की व्यवस्था भी थी और वैदिक आर्य अच्छी खासी फसल पैदा कर लेते थे। फसल तैयार होने पर स्त्रिनी (हंसिया) से उसे काटते थे। उसका गट्टर या बोझ बनाते थे। अन्न को एकत्र कर रोंदकर धान्यकृत (ओसाते) करते थे और अपनी फसल तैयार कर घर ले आते थे। यत्र-तत्र फसल को हानि पहुंचने वाले कीड़े-मकोड़ों का भी वेद में उल्लेख मिल जाता है। कभी-कभी अनावृष्टि एवं अतिवृष्टि भी शस्य को क्षति पहुंचा देती थी।

निम्न वर्ग के व्यक्ति अपने जीवन-यापन के लिए आखेट भी करते थे, जो कि उनके जीवन के मुख्य कार्यों में से एक था। शिकारी धनुष-बाण एवं जाल का उपयोग करते थे। जाल से सिंह पकड़ने का वर्णन भी मिलता है। खन्दक में हिरन को गिराकर तथा कुत्तों द्वारा सूअर का शिकार भी किया जाता था। चिड़िया जाल में फंसाई जाती थीं। हाथियों को वश में करने के लिए पालतू हाथियों का उपयोग किया जाता था। बाण के द्वारा भैंसों का शिकार होता था।

वैदिक काल में विभिन्न प्रकार की दस्तकारी का भी उल्लेख मिलता है। उस समाज में बढ़ई का आदरपूर्ण स्थान था, क्योंकि वह युद्ध आदि के लिए रथ बनाता था तथा कृषि आदि के लिए गाड़ी व हल बनाता था। वह लकड़ी पर नक्काशी का कार्य भी किया करता था। धातुकार और लोहार को समाज में द्वितीय स्थान प्राप्त था। आग धोकने के लिए पंखे का प्रयोग होता था। हिरण्यकार हिरण्य से आभूषण बनाता था। ऋग्वेद से यह भी पता चलता है कि सिन्धु जैसी नदियों में स्वर्ण प्राप्त होता था, इसीलिए सिन्धु को स्वर्ण निर्झरिणी कहते थे। कभी-कभी भूमि से सोना भी निकाला जाता था। उस समाज का चौथा व्यक्ति चर्मकार था, जिसे चमड़ा पकाने की कला का ज्ञान था, जो कि चमड़े से विभिन्न चीजों का निर्माण करता था। स्त्रियां कपड़ा सीने, बुनने तथा चटाई बनाने का कार्य करती थीं। इन सभी कार्यों को करने वालों को हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था, जैसा कि आज के समाज में देखा जाता है। विभिन्न प्रकार के कार्य करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र था। वेद में एक स्थान पर वर्णन लिमता है कि—“मैं कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं और मेरी माता पीसनहारिन है।” दास अपने स्वामी के कार्यों में सहायता करते थे। चाहे वे कार्य कृषि के हों, औद्योगिक या पशुपालन संबंधी ही क्यों न हों। मत्स्य पालन का स्पष्ट वर्णन वेद में नहीं है और न सामुद्रिक व्यापार में ही आर्य कुशल थे, किन्तु नदी पार करने के लिए नाव का प्रयोग होता था।

व्यापार के क्षेत्र में आर्यों ने उस युग में जो उन्नति की, वह सीमित साधनों के देखते हुए पर्याप्त थी। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही प्रकार के व्यापार उस युग में चलते थे। आर्यों ने सिक्कों का भी निर्माण किया था। कुछ विद्वानों ने 'निष्क' को एक सिक्का कहा है। दूसरे व्यक्ति उसे एक आभूषण कहते हैं। अधिकतर विनिमय प्रथा द्वारा ही व्यापार होता था। ऋग्वेद में इन्द्र की मूर्ति का मूल्य गायें लिखा है। ऋग्वेद में वणिक शब्द का प्रयोग हुआ है जो कि व्यापारी का परिचायक है। ऋग्वेद में एक स्थान पर सौदा तय करने में घटा-बढ़ी करने का सुन्दर वर्णन आया है। जहां यह भी लिखा है कि तय किये हुए सौदे का निर्वहन आवश्यक था। ऋण के लेन-देन का भी वर्णन मिलता है। पशु भी धन था, अश्व को भी धन लिखा है। वीर को भी धन की संज्ञा दी है। योग्य पुत्र भी धन बताया गया है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि वैदिक भारत में आर्थिक विषमता न थी, जन-जीवन सुखमय था।

धार्मिक स्थिति

वैदिक काल भारतीय आर्यों का स्वर्णिम प्रभात है। उस स्वर्णिम काल में ही उन्होंने अध्यात्म जगत् में प्रथम पदार्पण किया था। किन्तु इस स्वर्णिम उदयकाल में ही आर्यों ने तो उन्नति एवं विकास किया था। तदनुरूप उनकी मान्यताएँ—आस्थाएँ आज तक अविचल रूप में प्रतिष्ठित हैं। मेरा तो अपना विश्वास है कि वैदिक काल में आध्यात्मिक क्षेत्र में जो अभ्युत्थान हुआ, उसके पीछे शताब्दियों की शिक्षा, योग्यता एवं मान्यताओं का योग है, जिनके योग से आर्यों ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया है।

वैदिक शिक्षा का आदर्श महान् था। प्राप्त परम्परा, सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा इस शिक्षा का उद्देश्य था। ब्राह्मण गुरु था, शिक्षक था, उनके घर तथा आश्रम शिक्षालय थे। श्रुति का अध्ययन श्रवण करके ही होता था। शिक्षा पद्धति में तप का महत्त्वपूर्ण स्थान था। आत्मशिक्षण, आत्मानुभूति की प्रधानता थी। इस प्रकार गुरुचरण सुश्रूषा, तप एवं त्याग तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन उस शिक्षा के आदर्श थे। इन आदर्शों से निर्मित आर्यों का धर्म एवं दर्शन अद्वितीय था। वैदिक जीवन में पुरोहितों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। ऋग्वेद में प्रतिबिम्बित धार्मिक जीवन में आदिवासियों का सा विश्वास नहीं था अपितु पुरोहितों के चिरचिन्तन की साधना की छाप थी। मनुष्य प्रकृति के निकट था, अतः सर्वप्रथम प्रकृति की उपासना होती थी। मुख्य देवता, द्यौ, पृथ्वी, वरुण, इन्द्र की पूजा होती थी। पांच सौर्य देवता थे—सूर्य, सविता, मित्र, पूषन, विष्णु। शिव रुद्र के नाम से कथित थे। अश्विनौ, मरुत, वायु, वात, पर्जन्य, उषा भी ऋग्वेदकालीन देवता थे। इन देवों में से इन्द्र, अग्नि, सोम को लक्ष्य कर पर्याप्त सूक्तों का सृजन हुआ है। सूर्य को भी अनेक नामों से याद कर उसे महत्त्व प्रदान किया गया है। कुछ भावात्मक देवता थे; जैसे—श्रद्धा, मन्यु, प्रजापति, आदित्य तथा अदिति। परवर्ती साहित्य में यही भावात्मक देव प्रजापति अत्यधिक महत्त्व प्राप्त करता है। वैदिक Theology की प्रकृति देवताओं को युगल या समूह रूप से कहने की भी रही है; जैसे—मित्रावरुणौ, द्यावापृथ्वी तथा समूह रूप में, यथा—मरुत, आदित्य, वसु, विश्वेदेवाः। कुछ के साथ स्त्रीत्व बोधक नाम संयुक्त हैं; जैसे—पृथ्वी, उषा। अधिक सरल प्रकृति पूजा का रूप उन मन्त्रों में है जिनमें वृक्ष पर्वत आदि वर्णित हैं। देवता की पशुरूप में भी सत्ता दृष्टिगोचर होती है। इन्द्र एवं द्यौ को बैल के रूप में सूर्य का अश्व के रूप में वर्णन किया गया है। वर्षा के निरोधक तत्त्व 'अहि' शब्द से कथित हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उस सभ्यता के आदिकाल में बहुदेवतावाद और प्रकृति की उपासना का समन्वय था। प्रकृति-पूजा अपने स्थूल रूप में न होकर लाक्षणिक ही थी। देवी-देवताओं की उपासना के लिए किसी असाधारण या अमानवीय दैवी शक्ति की कल्पना करना अनिवार्य था और कल्पना उसी स्थिति में संभव है जब कल्पित वस्तु का कभी साक्षात्कार हो चुका हो। प्रकृति-विद्युत्-सागर, बात, अग्नि आदि की शक्ति का साक्षात्कार मानव

को सर्वप्रथम हुआ। अतः इसी शक्ति में उन्होंने देवताओं को आरोहित किया होगा। अतः भारतीय आर्यों का धर्म प्रकृति-पूजा पर आधारित बहुदेववाद था।

किन्तु ऋग्वेद काल से या ऋग्वेद में ही एकेश्वरवाद की ओर जो स्पष्ट संकेत प्राप्त है, वह भी इनकी आध्यात्मिक उन्नति की पराकाष्ठा के द्योतक है। इन सारे देवताओं से परे उन्होंने सत्ता की कल्पना की जो सर्वोपरि है और समस्त सृष्टि की जन्मदात्री है। वह सर्वोपरि शक्ति जिसे “एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति” के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। श्री बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि—“ऋग्वेद के आदिकाल में बहुत देवताओं की सत्ता मानी जाती थी, जिसे वे पौलीथिज्म (बहुदेववाद) की संज्ञा देते हैं। कालान्तर में जब वैदिक आर्यों का मानसिक विकास हुआ तब उन्होंने इन बहुदेवताओं के अधिपति या प्रधान रूप में एक देवता-विशेष की कल्पना की। इसी का नाम है—मोनोथीज्म (एकेश्वरवाद)। अतः बहुदेवतावाद के बहुत काल के पीछे एकेश्वरवाद का जन्म हुआ और उसके भी अवान्तर काल में सर्वेश्वरवाद (पैनथीज्म) की कल्पना की गई।

देवता मानव एवं मानवता के रक्षक, मित्र, पिता आदि सभी रूपों में सहायक थे। अग्निदेव को रक्षक, घर का स्वामी तथा निकट सम्बन्धी कहा गया है। यही नहीं, वह तो कृपालु, मित्र, पिता, भ्राता, पुत्र तथा सर्वपालक भी है। इसी प्रकार इन्द्र की पिता, रक्षक, धनदाता आदि रूप से प्रशंसा की गई है। मनुष्य अपने देवों को प्रसन्न रखने के लिए प्रार्थनाएं करते थे। दूध, घृत, सोम तथा अन्य खाद्यान्न उनके नाम से यज्ञों में हविष्य देते थे। यज्ञों को प्रधानता प्राप्त थी। ब्राह्मण काल में तो यज्ञ ही सर्वस्व थे। यज्ञों में होता नामक ऋत्विज मन्त्र पाठ करता था। अध्वर्यु शारीरिक क्रियाएं करता था। उद्गाता नामक ऋत्विज उच्च स्वर से सामगान करता था। ब्रह्मा नामक ऋत्विज क्रियाकलाप की देखरेख करता था।

दर्शन—भारतीय दर्शन का उदय भी ऋग्वेद के दशम मण्डल में दृष्टिगोचर होता है। बहुदेवतावाद के विषय में प्रश्न उठाया गया है। विश्व की एकता का प्रतिपादन किया गया है। असत् से सत् के उत्पन्न होने की बात कही गई है। सर्वप्रथम जल की उत्पत्ति हुई, फिर तेज की उत्पत्ति हुई है। धीरे-धीरे समग्र सृष्टि उत्पन्न हुई। इस विषय के अनेक मन्त्र मिलते हैं, जिनमें सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया की ओर संकेत किया गया है। सृष्टि की रचना विश्वकर्मा या हिरण्यगर्भ से कही गई है। पुरुष सूक्त में पुरुष के यज्ञ से विश्व की उत्पत्ति बतलाई गई है। मृत्यु के उपरान्त शव जलाये जाते थे अथवा गाढ़ दिये जाते थे। यदि जलाए भी जाते थे तो उनकी भस्म गाढ़ देते थे। सतीदाह नहीं होता था यद्यपि वह अज्ञात न था।

नैतिक आदर्श

वैदिक साहित्य में नैतिक आदर्शों पर बल दिया गया है। नैतिक आदर्शों की महानता पर ही धर्म की श्रेष्ठता प्रतिष्ठित थी। केवल कोरा दर्शन ही सब

कुछ नहीं था, नैतिक आदर्श ही मानवता के निर्माण में सहायक होते थे। ऋग्वेद में लिखा है कि देवता, मित्र, वरुण, अमृत को जीतकर ऋत का पालन करते हैं। वरुण अमृत से घृणा करते हैं और ऋत की वृद्धि करते हैं। देवता ऋत में पैदा होते हैं, ऋत को पालते हैं तथा अमृत से सर्वथा घृणा करते हैं। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में दूसरे के धन के लिए लालच का निषेध किया गया है; **‘मागृधः कस्यस्विद्धनम्’**। उपनिषदों में आचार्य शिष्य को जो उपदेश देता है, वह नैतिकता की चरम सीमा का उपदेश है—सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो। स्वाध्याय में आलस्य मत करो। सत्य से विचलित नहीं होना चाहिए। धर्म से विचलित नहीं होना चाहिए अर्थात् सत्य एवं धर्म के पालन में प्रमाद नहीं करना चाहिए। माता के भक्त बनो, पिता के भक्त बनो, आचार्य के भक्त बनो, अतिथि के भक्त बनो अर्थात् इनकी सदा सर्वदा सेवा करो। अन्त में आचार्य बड़े ही मार्के की बात कहता है कि हमें जो उत्तम कर्म हैं, उनका सेवन करना चाहिए, दूसरों (निन्दित) का नहीं। जो हमारे सदाचार हैं उन्हीं को तुम्हें अपनाना चाहिए, दूसरों को नहीं।

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।

सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्।

कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्।

स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यनि नो इतराणि।

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।

वैदिक काल में सदाचार की प्रधानता थी। एक ऋषि वरुण से प्रार्थना करता है कि यदि उसने भाई, मित्र, साथी पड़ोसी या किसी अपरिचित का कुछ अहित किया हो तो वरुण देव उसका पाप हर लें। इसी प्रकार सविता देव से भी अपने समस्त पापों को दूर करने की प्रार्थना है।

प्राचीन आर्यों में अतिथि-सत्कार का महत्त्वपूर्ण स्थान था। प्राचीन सभ्यता के अनुयायी भारतीय ग्रामों में आज भी अतिथि को देवता के समान पूजा जाता है। ऋग्वेद में अग्नि को अतिथि कहा है। इसका आशय यही है कि जिस प्रकार अग्नि पवित्र और उपास्य है। इसी प्रकार अतिथि उपास्य, पूज्य एवं पवित्र है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वैदिक आर्यों की धार्मिक, दार्शनिक तथा नैतिक मान्यताएँ उत्कृष्ट थीं। निःसन्देह “चिरन्तन काल से वेद भारतीय संस्कृत के प्रकाश स्तम्भ रहे हैं। भारतीय समाज के संगठन और उसकी जीवनचर्या के नियम और व्यवस्थापन के साथ-साथ उसकी आध्यात्मिक कथा अन्य उदात्त भावनाओं की प्रेरणा में भी वेद का प्रमुख स्थान रहा है।

संकल्प पत्र

मुझे गर्व है, मैं भारतीय हूँ और कर्तव्य निष्ठा से संकल्प लेता हूँ / लेती हूँ कि

- (1) संविधान का, राष्ट्र ध्वज का एवं राष्ट्र गान का आदर करूंगा।
- (2) राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों का पालन करूंगा।
- (3) देश की, भारत की एकता-अखंडता और प्रभुता की एवं वन, झील, नदी और वन्य जीवों की रक्षा करूंगा।
- (4) राष्ट्र की सेवा करूंगा।
- (5) स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध प्रथाओं का एवं धर्म, भाषा, प्रदेश या वर्ग के आधार पर भेदभाव नहीं करूंगा।
- (6) प्राणी मात्र के प्रति दया भाव रखूंगा।
- (7) हिंसा से दूर रहूंगा।
- (8) सार्वजनिक सम्पत्ति की संरक्षा करूंगा।
- (9) वैज्ञानिक दृष्टिकोण का, मानवतावाद का, सुधार की भावना का विकास करूंगा।
- (10) भारत के सभी लोगों में समरसता और सम्मान एवं भातृत्व की भावना का निर्माण करूंगा।
- (11) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का प्रयास करूंगा।

“अधिकारों के प्रति जागरूक रहो-कर्तव्यों के प्रति समर्पित रहो।”

प्रो. (डॉ.) सोहन राज तातेड़।

भारतीय मानवाधिकार आयोग सभी बालक, विद्यार्थी व नागरिक बन्धुओं से अपेक्षा करता है कि अपनी फोटो व हस्ताक्षर के साथ संविधान में वर्णित मुख्य कर्तव्यों “Article 51A” का संकल्प लें और रोजाना दोहराए।